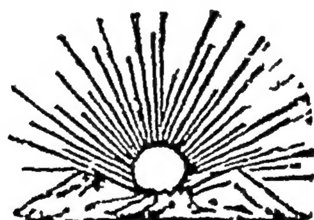
प्रथमावृत्ति
२०००

वीर संवत् २४९५
विक्रम सवत् २०२६
१७ मई १९६९

मूल्य १-३०



मुद्रक—श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस, सैलाना (म. प्र.)

अध्यापक शिविर खीचन

एक अपूर्व आयोजन

वैराग्यवासित विरक्तात्मा श्री त्रिलोकचन्द्रजी की प्रव्रज्या के प्रसंग पर, तीर्थधाम खीचन मे संघ की कार्यकारिणी सभा का आयोजन किया गया था। कार्यकारिणा सभा करने का विचार तो पहले से हो रहा था और कुछ दिनो मे होने वाली ही थी, किन्तु कुछ सदस्य महानुभावो का सुझाव मिला कि– "दीक्षा प्रसंग पर सहज ही मिलना होगा, अतएव वही कार्यकारिणी सभा रख ली जाय। अन्यथा इसके बाद अन्यत्र पहुँचना कठिन होगा।" यद्यपि मैं संतो के स्थान (ग्राम) में संस्था की मिटिंग करने के पक्ष मे नहीं हूँ और सतजनो को इससे पृथक् रखना चाहता हूँ। इससे मै ऐसे सुझाव का समर्थन नहीं करता, तथापि सदस्यों की व्यस्तता तथा अनुकूलता का विचार कर कार्यकारिणी का आयोजन खीचन मे ही करना पड़ा।

कार्यकारिणी सभा की घोषणा होते ही सघ के धर्मप्राण उदारमना महानुभाव श्रीमान् सेठ किसनलालजी सा. मालू अपनी भावना को मूर्त रूप देने के लिए तत्पर हुए। आप खीचन से चल कर सैलाना पधारे और सुझाव रखा कि–'समाज

मे धार्मिक ज्ञान, रुचि तथा संस्कारो का दिन प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है। बालको मे धर्म के सस्कार जमा सके, वैसे धर्माध्यापक नही मिलते। समाज मे धर्मज्ञ एवं श्रद्धा-सम्पन्न विद्वानो की अत्यत कमी है। इसलिए जैनधर्म के उच्चकोटि के विद्वान तय्यार करने सम्बन्धी विचारणा को कार्यकारिणी मे स्थान देवे, तथा धार्मिक शिक्षण-संस्थाओ के सचालको तथा अध्यापको को बुलाकर विचार-विमर्श और योजना बना कर कार्य प्रारंभ करना है। आपकी योजना पाँच वर्ष मे जैन दार्शनिक विद्वान तय्यार करने की है और उसके लिए सभी प्रकार की अनुकूलता एव अर्थ व्यवस्था करने की तत्परता भी है। आपकी इच्छानुसार धार्मिक-शिक्षण-सस्थाओं के कई संचालको तथा अध्यापको को आमन्त्रण भेजे गए थे। दीक्षा के शुभ प्रसंग पर कुछ विद्वान पधारे भी थे। विचार विनिमय के चलते श्रीमान् पं. लक्ष्मीलालजी सा दक M. A., B. Ed. समदडी ने सुझाव उपस्थित किया कि—'बालको को प्रारभ से शिक्षा देकर विद्वान बनाना तो उत्तम ही है, किन्तु इसमे समय लगेगा। यदि जैन अध्यापको का अनुकूलतानुसार शिविर आयोजन किया जाय, तो इसका लाभ थोडे ही समय मे मिल जायगा और वे सरलता से धर्म-मर्मज्ञ वन सकेगे। उनके सुझाव से अध्यापक श्री अम्बालालजी सा नागोरी M. A., B. Ed. भी सहमत हुए। विभिन्न क्षेत्रो के अनेक सज्जन उपस्थित थे। विचारो का आदान प्रदान होते-होते शिक्षक-शिविर की योजना निश्चित हो गई। निश्चित हुआ कि शिक्षक-शिविर, विद्यार्थी-शिविर के साथ ही जोधपुर

मे चलेगा और इसकी व्यवस्था एवं संचालन वही से होता रहेगा। किन्तु बेंगलोर निवासी धर्म-प्रेमी श्रीमान् सेठ छगनलालजी साहब मूथा के सुझाव ने मुझे चौका दिया। अबतक मैं भी दूसरे सदस्यो के समान अपने विचार प्रकट करके रह जाता था और अपने सिर पर किसी भी प्रकार का भार नही समझ रहा था। अब शिविर सचालन का भार आने लगा, तो चिन्ता बढी। मैने सभा से निवेदन किया कि–"मै इस कार्य के लिए अपने को योग्य नही पाता। मैने न तो हॉइस्कूल मे पढाई की और न किसी जैनशाला मे एक दिन के लिए भी प्रविष्ट हुआ। भला, मै विद्वानो का शिविर कैसे चला सकूंगा ?" मेरी एक नही चली, किसी एक ने भी मेरा साथ नही दिया और सर्व सम्मति से योजना स्वीकृत हो गई। इस प्रकार योजना का रूप बदल जायगा और अपने पर ही आ जायगा–इसकी तो मै सभावना भी नही सोच सका था।

मै चिन्ता छोड़ कर कार्यान्वय का विचार करने लगा। मैने सोचा–पं श्री बाबूरामजी जैन शास्त्री, व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य (जो कुछ समय से सघ का कार्य कर रहे हैं) तथा जोधपुर शिविर-संचालक विद्वानों का सहयोग लेकर कार्य चलाया जायगा। फिर बहुश्रुत श्रमणश्रेष्ठ भी विहार करने वाले हैं। हम निवेदन करेंगे कि यदि गुरुदेव, शिविर-काल में जोधपुर विराजें, तो दोनो शिविर लाभान्वित होगे। हमने श्रमणश्रेष्ठ से विनती की। नवयुवक संतो ने भी हमारी विनती में रुचि व्यक्त की कि 'इससे हमें भी कुछ जानने को मिलेगा।'

हमे स्वीकृति तो नही मिली, किन्तु हमारे मन मे आशा जम गई थी। कुछ सतो का खीचन से विहार भी हो गया था। हमारे खीचन छोडने के बाद श्रमणश्रेष्ठ के फलोदी पधारने के समाचार भी प्राप्त हो गए थे। घर आ कर आवश्यक कार्यों का निर्वाह करते हुए भी मेरे सामने शिविर का निकट आता हुआ प्रसंग था ही। समय पाकर मैं इस विषय मे भी सोचने लगा। पं. बाबूरामजी को भी तय्यार रहने की सूचना दे दी। मैंने दस दिन के दस विषयो का चुनाव भी कर लिया और प्रत्येक विषय पर संकेत रूप नोट भी करने लगा।

कुछ दिन बीतने पर जोधपुर से समाचार मिला कि–'श्रमणश्रेष्ठ का विहार जोधपुर की ओर नही होगा।' यह भी मुझे निराश करने वाली खबर थी। इधर पं. बाबूरामजी की धर्मपत्नी के रुग्ण होने के समाचार आने से वे उज्जैन चले गए। मैंने जोधपुर लिखा–'श्रमणश्रेष्ठ नही पधारेंगे, तो भी शिविर जोधपुर ही होगा। वहा विद्वानो का सहयोग लेकर काम चला लिया जायगा।' प्रस्थान के तीन चार दिन शेष रहते, शास्त्रीजी का पत्र मिला कि–'मेरी पत्नी गंभीर रूप से बीमार है। मैं जोधपुर नही आ सकूंगा।" यह दूसरी बाधा उत्पन्न हो गई थी। इसके बाद जोधपुर मे समाचार मिले–"यहाँ विद्यार्थी-शिविर के सचालक अध्यापकगण प्रात.काल ४ बजे से रात्रि के १० बजे तक व्यस्त रहते हैं। अतएव इनसे किसी प्रकार का सहयोग नहीं मिल सकेगा। आप शिविर का स्थान खीचन ही रखिये।" मैंने भी ऐसी स्थिति में खीचन शिविर रखना उत्तम

समझा। मैंने जोधपुर के लिए प्रस्थान करने का दिन १४–६–६७ प्रात.काल निर्धारित किया था, जिस से १५–६–६७ को प्रात काल पहुँचकर उसी समय कार्य प्रारभ किया जा सके। किन्तु खीचन निश्चित् होने पर १२–६–६७ की शाम को ही प्रस्थान करना पडा। मै १४–६ को प्रात काल खीचन पहुँचा।

जोधपुर से २३ अध्यापको को शिविर मे सम्मिलित होने की स्वीकृति दी गई थी, किन्तु सम्मिलित कुल १० ही हुए। इनमे भी वाहर के तो केवल ८ ही थे। यथा–

१ श्री मुनिन्द्रकुमारजी जैन, प्रधान अध्यापक श्री शान्ति जैन पाठशाला, पाली।

२ श्री नानालालजी मट्ठा, गृहपति श्री गोदावत जैन गुरुकुल, छोटी सादड़ी।

३ श्री अमृतलाल भाई मोतीचन्द भाई मोरवीवाले, अहमदावाद।

४ श्री चौथमलजी जैन, सहायक अध्यापक मिडिल स्कूल, आलनपुर।

५ श्री सुगनचन्दजी जैन, राजकीय माध्यमिक शाला पाली।

६ श्री महावीरचन्दजी जैन, जैन रत्न विद्यालय, भोपालगढ।

७ श्री नेमीचन्दजी जैन " " "

८ श्री मिश्रीलालजी जैन, श्री स्था. जैन महावीर पाठशाला, धार।

९ श्री लालचन्दजी जैन अध्यापक खीचन ।

१० श्री अमरचन्दजी जैन खीचन ।

शिविर का कार्य १५–६–६९ को प्रातःकाल ८ बजे से प्रारम्भ हुआ । मैंने १४–६ के दिन को ही गुरुदेव से निवेदन किया कि–"कल प्रातःकाल के व्याख्यान मे आपश्री चालू विषय को स्थगित कर देव-गुरु का स्वरूप एव निर्दोषता, सर्वोत्तमता तथा सुदेव सुगुरु की पहिचान को समझाने की कृपा करे । आपश्री और जो सत बोले, वे इसी विषय पर प्रकाश डाले ।

(१) व्याख्यान ठीक ८ बजे प्रारम्भ हो गया । सर्व प्रथम युवक मुनि श्री प्रकाशचन्दजी म. सा. ने इस विषय पर लगभग ४० मिनिट विवेचन किया, तत्पश्चात् गुरुदेव ने लगभग एक घटा विवेचन किया और बाद मे मैं बोला । शिविर मे सम्मिलित अध्यापक-गण सामायिकयुक्त कापी और पेंसिल लेकर बैठे और नोध करने लगे । शिविर की दूसरी बैठक दिन के दो बजे से प्रारम्भ हुई जो लगभग ४॥ बजे तक चली । इस समय इसी विषय पर चर्चा चलाई गई । तीसरी बैठक प्रतिक्रमण के बाद प्रारम्भ होकर रात के १० बजे तक चली । रात की बैठक मे प्रस्तुत विषय पर शका समाधान होते रहे ।

(२) दूसरे दिन 'षड् द्रव्य' मे से जीव द्रव्य को छोड-कर शेष पाच द्रव्य को विषय बनाया था । प्रारम्भ मे मु. श्री रत्नचन्द्रजी म. ने द्रव्यो का शास्त्रीय स्वरूप बतलाया, उसके बाद गुरुदेव ने विस्तार से विवेचन किया, फिर मैं भी कुछ देर–धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय की प्ररूपणा मे जैन धर्म की

अपूर्वता तथा पुद्गल परिणमन पर बोला। प्रथम दिन की तरह आज भी दिन और रात्रि मे यही विषय चला।

(३) तीसरे दिन का विषय 'जीव द्रव्य' था। सर्व प्रथम श्री उत्तममुनिजी म. बोले, फिर श्री प्रकाशमुनिजी म. ने विवेचन किया। इसके बाद गुरुदेव का प्रवचन हुआ और अंत मे तपस्वी श्री चम्पालालजी म. सा ने जीव के भेद आदि बतला कर विकास साधने की प्रेरणा की। बाद की दोनो मिटिंगो का कार्य भी प्रथम दिन की भाँति चला और प्रतिदिन २३-६-६७ तक चलता रहा।

(४) चौथा दिन 'कर्मसिद्धात' के लिए नियत था। श्री रत्नमुनिजी म ने कर्मों के भेद बतलाये। श्रमणश्रेष्ठ ने कर्माश्रव का कारण, वर्गणाओ का स्वरूप आदि पर सरल दृष्टातो के साथ विवेचन किया। बाद मे शिविर मे सम्मिलित अध्यापक श्री चौथमलजी सा. जैन बोले, श्री अमरचन्दजी गोलेच्छा ने स्वरचित कविता सुनाई और अंत मे मैं बोला।

(५) शिविर का पाँचवा दिन 'सम्यक्त्व' विषयक था। मुनिश्री प्रकाशचन्दजी म. और सती श्री मनोहरकुँवरजी के बाद श्रमणश्रेष्ठ ने विवेचन किया।

इसके बाद मैं भी इस विषय पर कुछ देर बोला था।

(६) छठा दिन 'विरति' का था। इसमे संवर और निर्जरा-दोनो सम्मिलित रखे गए थे। आज श्री रत्नमुनिजी और श्री उत्तममुनिजी के बाद श्रमणश्रेष्ठ ने विशद विवेचन किया और मैंने भी भाग लिया।

(७) सातवा दिन पुन. विरति के लिए ही रखना आवश्यक समझा गया। आज श्री प्रकाशमुनिजी म, गुरुदेव और बाद मे मैं बोला।

(८) आठवा दिन 'अनेकान्त' विषयक था और इसमे केवल निक्षेप और प्रमाण पर ही विवेचन होना था। प मु श्री प्रकाशचन्द्रजी म. ने निक्षेपो का स्वरूप समझाया, फिर गुरुदेव ने विवेचन किया। उसके बाद समय पूरा हो जाने से कार्य क्रम स्थगित किया गया। दो बजे बाद निक्षेपो के विषय मे मैंने अपने विचार व्यक्त किये। इसके बाद 'प्रमाण' के विषय मे श्री प्रकाशमुनिजी म सा. ने विवेचन किया और मैं भी बोला। रात्रि मे इसी विषय पर चर्चा होती रही।

(९) आज अनेकान्त के नयवाद और स्याद्वाद का विषय था। इस विषय पर मुनि श्री प्रकाशचन्द्रजी म और श्रमणश्रेष्ठ ने प्रवचन किया और मैं भी बोला।

जोधपुर से श्रीमान् धीगडमलजी सा. का आग्रह पूर्ण पत्र आया कि शिविर का कार्य पूर्ण करके २४–६ की सध्या को ही हम सभी जोधपुर आजावें और २५ के समापन समारोह मे सम्मिलित होवे। अतएव दसवा दिन उपसहार रूप मे रखा गया।

(१०) आज का दिन शिविर समापन का होने से तपस्वीराज के मगलाचरण के बाद प० मु. श्री प्रकाशचन्द्रजी म. और गुरुदेव का व्याख्यान ९ बजे तक ही चला। बाद मे शिविरस्थ अध्यापको ने अपने उद्गार व्यक्त किये। प्रत्येक ने एक-एक विषय पर संक्षेप मे विचार रखे। सर्व प्रथम श्री नानालालजी

मट्ठा, श्री नेमीचन्दजी भोपालगढ, श्री सुगनचन्दजी पाली, श्री चौथमलजी सवाईमाधोपुर, सुश्री साधना वहिन, श्री अमृतलालभाई दोसी, श्री मिश्रीलालजी धार, श्री मुनीन्द्रकुमारजी पाली, श्री अमरचन्दजी खीचन, श्री मांगीलालजी भंडारी अधिष्ठाता श्री लोकाशाह जैन गुरुकुल सादडी + और सुश्री सुभद्रा वहिन। इसके बाद जिनकी भावना, प्रेरणा एवं प्रयत्न से इस शिविर की योजना बनकर कार्य रूप मे परिणत हुई और जिन्होने व्ययभार वहन किया, उन धर्मप्राण उदारमना श्रीमान् सेठ किसनलालजी सा. मालू ने अपने उद्‌गार व्यक्त किये। आपने आगामी आश्विन कार्तिक मे शासकीय शिक्षा विभाग के अवकाश के समय पुन शिविर सम्पन्न करने की प्रेरणा की। आपके पश्चात् श्रीमान् सेठ चम्पालालजी सा. गोलेछा ने शिविर के कार्यक्रम के प्रति सतोष व्यक्त करते हुए खीचन सघ की ओर से आगत अध्यापक महानुभावो को धन्यवाद दिया। अन्त मे मैने इस शिविर की उत्पत्ति से लगा कर अबतक के कार्यक्रम पर अपने भाव व्यक्त किए, साथ ही आगत अध्यापक महानुभावो से निवेदन किया कि–

"आप सब विद्वान् हैं। आपको तो सकेत ही पर्याप्त होता है, फिर भी आपको गुरुदेव की कृपा से प्रत्येक विषय पर स्पष्टता पूर्वक सरल रीति से समझाया गया है। हम आप से

+ आप गुरुकुल का प्रचार एव आर्थिक सहयोग प्राप्त करने के लिए दौरा करते हुए आज यहा पधारे थे। आपने शिविर की उपादेयता बताते हुए शुभ भावना व्यक्त की और अपना प्रचार कार्य भी किया।

आशा करते है कि आप इस शिविर मे मिले हुए बोध को बीज रूप मान कर खूब विकसित, पल्लवित एव फलप्रद बनावेगे, अपने विद्यार्थियो को हृदयंगम करावेगे और आगामी शिविर मे अपने विकसित ज्ञान का परिचय देगे ।"

समापन कार्य पूर्ण होने मे समय अधिक लग गया था । भोजन करने के बाद रवानगी की तय्यारी हुई और मांगलिक श्रवण के पश्चात बिदाई होने लगी । श्रीयुत प्रकाशचन्दजी टाटिया ने सब का ग्रुप फोटो लिया । फिर खीचन सघ के अग्र-गण्य बन्धुओ से प्रेम पूर्ण बिदाई लेकर चल दिये ।

मेरे मन मे भी सतोष था । शिविर प्रारम्भ होने के पूर्व बडी चिंता लग गई थी । कैसे कार्य होगा ? कभी ऐसा प्रसग ही नही आया था । शिविर के अनुभव से शून्य मैं कैसे क्या करूँगा ? किन्तु श्रमण-श्रेष्ठ गुरुदेव के पुण्य-प्रताप से सभी काम सुचारु रूप से चलता रहा । दिन की चर्चा के समय अगले दिन के विषय की सूचना दी जाती थी । प्रात काल और दिन की चर्चा के समय स्थानीय बन्धुओ और बहिनो की अच्छी उपस्थिति रहती थी । महासती श्रीपनेकुवरजी म. ठा ८ से भी पधारते थे । शिविर के कार्यक्रम और शारीरिक कार्य के अतिरिक्त समय मिलता उसमे मै आगे उपस्थित कार्यक्रम के विषय मे विचार करके अपने को तय्यार करता । इसलिए मै सबसे पृथक एवं अकेला ठहरा था । दूसरे दिन षट्द्रव्य का शास्त्रीय विवेचन मुनिश्री रत्नचन्द्रजी म ने अच्छे ढंग से किया था । मुनिश्री प्रकाशचदजी म. ने सात दिन तक बराबर भाग लिया । आपकी

निरूपण शैली अच्छी है और श्रमण-श्रेष्ठ तो विषय को इतना सरल बना देते थे कि साधारण व्यक्ति भी सहज ही समझ जाता । आपके दिये हुए उदाहरण बहुत प्रभावशाली होते थे । शिविर मे सम्मिलित सभी सज्जन आपके उदाहरणो से बहुत ही प्रभावित हुए । मेरा अनुमान है कि यह शिविर युवक मुनियो के लिए भी प्रेरक बनेगा । उन्हे ऐसे विषयो पर अधिक चिन्तन-मनन करने की भावना उत्पन्न करेगा । वैसे मैने अपने अंतिम निवेदन मे संकेत भी किया था ।

श्रीमान् सेठ किसनलालजी सा मालू की ही सत्प्रेरणा से यह ज्ञानवर्द्धक शुभ प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई । आपने ही सभी आगत शिविरार्थियो का भोजनादि से स्वागत किया और मार्ग व्यय तथा प्रत्येक को ५०) पारितोषिक दिया—यह सब स्थानीय सघ के नाम से । आप अपने नाम की तो इच्छा ही नही रखते ।

श्रीमान् सेठ चम्पालालजी सा गोलेच्छा ने ही मुझे जोधपुर के बजाय खीचन शिविर रखने की सूचना देकर दो दिन पूर्व आने का लिखा और उसी पर से मैं अपना कार्यक्रम बदल कर १२–६ को ही रवाना हुआ । आप मद्रास पधारने वाले थे, किन्तु शिविर के कार्य मे सहयोग देने के लिए रुके और अपना सहयोग देते रहे ।

शिविर मे सम्मिलित हुए अध्यापकगण का स्नेहपूर्ण व्यवहार स्मरणीय हो गया । सभी महानुभावो ने रुचिपूर्वक भाग लिया और भविष्य मे भी ऐसे शुभ प्रसंग पर उपस्थित

होने की भावना व्यक्त की ।

शिविर की कार्रवाई की नोध खीचन मे सुश्री सुभद्रा बहिन तथा सुश्री साधना बहिन ले रही थी । मैंने उन्हे सूचित किया था कि वे अपनी नोध की प्रतिलिपि करके मुझे भेजेगे, तो मै उसका प्रकाशन करदूंगा ।

अध्यापक शिविर के व्याख्यानो की लेखमाला सम्यग्-दर्शन के २०-७-६७ अक से प्रारम्भ होकर ५-१०-६८ तक ३२ अको मे निरन्तर चलती रही । इस बीच हमे पाठको के पत्र मिलते रहे जिसमे लेखमाला को पुस्तक रूप मे प्रकाशित करने का आग्रह था । वास्तव मे शिविर के व्याख्यान प्रत्येक जैनी के लिए उपयोगी है । विद्यार्थी, अध्यापक और उपदेशको के लिए भी मननीय है । इसका प्रचार अधिक से अधिक होना चाहिए ।

इस पुस्तक के प्रकाशन मे ५०० प्रतियो का खर्च श्रीमान् सेठ पीराजी छगनलालजी भाव (मारवाड) निवासी ने प्रदान किया है । आप धार्मिक साहित्य के प्रकाशन और प्रचार मे उदारता पूर्वक योगदान करते रहते हैं ।

इसके सिवाय २५० प्रतियो की स्वीकृति विदुषी श्रीमती कुसुमकान्ता बहिन ने प्रदान की है । ज्ञान प्रचार मे आपका भी योगदान मिलता रहता है । अतएव उपरोक्त महानुभावो को अनेकानेक धन्यवाद है ।

सैलाना

१७-५-६६ —रतनलाल डोशी

शिविर व्याख्यान

देव-गुरु

(दि० १५-६-६७ गुरुवार प्रात काल ८-३० बजे पहला दिन)

पं. मुनिश्री प्रकाशचन्दजी म. सा. का प्रवचन

"पंच परमेष्ठि देव, सत्पथ पर गमन करनेवाले, ज्ञान-ध्यान और चारित्र के दाता परमोपकारी गुरुदेव के चरणो मे नमस्कार करने के पश्चात् गुरुदेव की आज्ञा से मैं देव और गुरु के स्वरूप के विषय मे कुछ कहना चाहता हूँ।"

देव और गुरु तत्त्व ऐसा है कि जिसकी प्रत्येक आस्तिक को आवश्यकता होती है। जिसके मन मे आत्मा, परमात्मा, परलोक, पुनर्जन्म एवं मोक्ष आदि की श्रद्धा हो, उसे देव तत्त्व को मानना ही पडता है। क्योकि देव तत्त्व ही ऐसा है—जो स्वयं पूर्ण, पवित्र और सर्वज्ञ होता है।

देव तत्त्व को माननेवाली अनेक परम्पराएँ हैं और सभी के देव विभिन्न रूपो के हैं। हमे सोचना है कि वास्तविक देव

कौन है, जो अपने उपासक को मुक्त करके परमपद प्राप्त करा सकता है।

जो ज्ञानादि उत्तम गुणों से युक्त हो, जो आराध्यरूप से सेवन करने योग्य हो, जिसने संसार का मूल ऐसे मोह का सर्वथा नष्ट कर दिया हो, वही देवपद से आराधनीय होता है।

जिस देव नामधारी में अज्ञान विद्यमान हो, जो भूल कर बैठता हो, जिसका मोह उदयमान हो, जो असंयमी, कामी, क्रोधी एवं शस्त्रधारी हो, वह सुदेव की कोटि में नहीं आ सकता। हम अन्य मतों के देव-पद धारकों को देखते हैं, तो बड़ा आश्चर्य होता है। उनमें राग-द्वेष-मोह-काम आदि स्पष्ट ज्ञात होते हैं। वे भक्तों का हित और विरोधियों अथवा दुष्टों का संहार करने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं। उनकी प्रतिज्ञा है कि "जब-जब पृथ्वी पर अत्याचार बढ़ जाते हैं, तब-तब मैं अवतार लेकर दुष्टों का संहार करता हूँ।" इस प्रकार की प्रतिज्ञा करनेवाला बतला रहा है कि वह राग-द्वेष युक्त है और जन्म-मरण—भव-भ्रमण के चक्कर से मुक्त नहीं हुआ है। जो स्वयं राग-द्वेष एवं जन्म-मरण से युक्त है, वह दूसरों—अपने उपासकों को मुक्त कैसे कर सकता है? जो काम-पीड़ित होकर स्त्री को अपने पास रखता है, बिना स्त्री के जिसका मन शांत नहीं रहता, वह भी क्या ईश्वर हो सकता है? जिसकी उपासना करनेवाले साधु भी स्त्री सहित होते हैं और जो स्त्री पुत्रादि छोड़कर सन्यास ग्रहण करने का विधान करता हो, तथा जो ब्रह्मचर्य का विधान तो करता हो, किंतु वह स्वयं स्त्री के मोह में बँधा हो, तो वह

मुक्तिदाता देव कैसे हो सकता है ? अज्ञान के कारण जो स्वयं मुक्ति का मार्ग नही जानता हो, जो आराधना करनेवाले को ऐसे वरदान देता हो कि जो स्वयं उसी के लिए दु खदायक बन-जाय और अपने बचाव के लिए दूसरे देव की शरण मे जाना पड़े और दूसरा देव, सुन्दर स्त्री का रूप बना कर उस महाविपत्ति मे उस परम आराध्य देव की रक्षा करे, यह स्थिति उस देव के देवत्व का खोखलापन स्पष्ट कर रही है। इन देवो मे निद्रा का उदय भी है। इनके चरित्र वर्णन मे ऐसी बाते सुनी जाती है कि जब भक्त ने विपत्ति से आतकित होकर भगवान् का स्मरण किया, तब भगवान् नीद मे थे। भक्त की आर्त्त पुकार उन तक पहुँची, वे नीद से चौंक पडे और भक्त की सहायता के लिए दौड पडे। इस प्रकार अज्ञान, निद्रा, मोह, असयम, चंचलता, अन्तराय आदि दोषो से युक्त देव को 'सुदेव' कैसे माना जा सकता है ? आप देव के १८ दोषो पर विचार करे, तो आपको ज्ञात होगा कि इतर देवो मे ये सभी दोष विद्यमान हैं और ये दोष उन खुद की बन्धनयुक्त अवस्था को सूचित करते है। ऐसे देव अपने उपासक को किस प्रकार मुक्त कर सकते हैं ?

आप सोचे कि अन्य तीर्थिक आराध्य देव, स्त्री रखते हैं, द्रव्य रखते हैं और शस्त्र ग्रहण कर युद्ध भी करते हैं तथा अपने विरोधी का दमन एवं संहार भी करते हैं। यदि ऐसे अज्ञान, मोह, काम, क्रोध एवं असयमादि दोषवाले को भी देव मानना है, तो राजा-महाराजा भी देव हो सकते हैं। उनके रानियाँ भी बहुत होती है, धन भी होता है और अन्य भोग के साधन भी

खूब होते हैं ।वे युद्ध भी करते हैं और अपराधियो को दण्ड भी देते हैं । जब उन्हे देव नही मान कर, देव के आराधक मानते हैं, तब उन आराध्य माने जानेवाले देव नामधारियो को मुक्तिदाता देव क्यो मानते हैं ? उन देव सज्ञक आराध्यो के लिए, भोग और भक्तो के लिए दौडधूप करने तथा तुष्ठ-रुष्ट होने के अतिरिक्त काई अन्य काम भी है ?

ज्ञानावरणीय कर्म का उदय जिसके है, वह अज्ञान के चलते दिखाई देनेवाली कुछ वस्तुओ को तो सामान्यरूप से जान लेते हैं, परन्तु सर्वज्ञ नही हो सकते । वे लोकालोक का स्वरूप तो क्या, परन्तु किसी एक वस्तु को भी पूर्णरूप से नही जान सकते । जिनकी आत्मा पर ज्ञान को ढकने वाला आवरण पडा हो, उससे भूल हो ही जाती है, फिर मोह का उदय उनसे विपरीत कथन एव आचरण करवाता है । कभी वे–"अहिसा परमो धर्म" भी कह देते हैं और कभी–"वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति," भी कह देते है और स्वय भी क्रुद्ध होकर व शस्त्र लेकर मारने को तत्पर हो जाते हैं । वे यह भी विधान करते है कि–हास्यवश· स्त्री के सामने, क्रीडा करते समय, प्राण संकट मे हो, धन क्षय हो रहा हो आदि प्रसगो पर झूठ बोला जाय, तो वह झूठ नही होता । इस प्रकार झूठ का विधान हो और सत्य का भी, तो ऐसे विचित्र विधान करने वाले को 'सुदेव' कैसे माना जाय ? ब्रह्मचर्य पालन का विधान भी हो और यह भी विधान हो कि अपुत्र मृत्यु पाने वाले की सद्गति नही होती–"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च," इसलिये पुत्रोत्पति करना

आवश्यक है। इस प्रकार के असत्य विधान और परस्पर विरोधी वाते सरागी एव छद्मस्थ ही करते है। संक्षेप मे यही कहना है कि जिनमे अज्ञान और मोह नही हो, वही सच्चा तारक हो सकता है।

श्री जिनेश्वर भगवंत, वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त करने के बाद ही तीर्थ प्रवर्त्तन करते हैं। उनका मार्ग न तो मिथ्यात्वादि दोप से दूषित है और न हिंसादि अनाचार से युक्त है। आरम्भ-परिग्रह आदि सभी प्रकार के सावद्य दोषों से प्रभु का मार्ग वचा हुआ है। हमारे परम वीतराग देव, अपने उपासक एवं आराधक पर प्रसन्न नही होते और विरोधी एवं द्रोही पर अप्रसन्न नही होते वे स्वयं क्रोधादि कषाय एवं कामभोगादि विषय-विकार से रहित होते हैं और दूसरो को भी विरत होने का उपदेश करते हैं। ऐसे अरिहत भगवंत और मोक्ष प्राप्त सिद्ध भगवंत ही हमारे देव हैं। हमारे लिए परम आराध्य हैं। उनकी आराधना से हम भी उस परमपद की प्राप्ति कर सकेंगे।

गुरु

जो शास्त्रो का, शास्त्रोक्त गुणो का और वस्तु के स्वरूप का सही उपदेश दे, वही गुरु है। आचार्य, उपाध्याय और साधु, गुरुपद मे है। देव, हमारे लिए मूल आराध्य पुरुष हैं, तो उन्ही देव के आराधक, उनके उपदेश एवं आज्ञा के पालक एवं उन देवाधिदेव के उपदेशो के प्रचारक, गुरुपद मे वन्दनीय

है। गुरुवर्ग जिनेश्वर भगवत के मार्ग पर चलनेवाला होता है। उनके जीवन मे न तो हिंसा को किंचित् मात्र भी स्थान है, न मृषा, अदत्त आदि अठारह पापो को स्थान है। वे निर्दोष भिक्षाचरी से अपना जीवन टिकाते हुए सयम और तप युक्त जीवन व्यतीत करते है। उनकी चर्या, वेश-भूषा आदि के विषय मे तो आप जानते ही हैं।

देव तत्व तो यहाँ के मनुष्यो के लिए अभी परोक्ष ही है, किंतु उनका प्रवचनरूपी धर्म, गुरुवर्ग के द्वारा ही हमे जानने को मिलता है। अरिहंत देव की अविद्यमानता मे गुरुवर्ग ही उनके धर्म-शासन का सचालन करते है।

जिनका जीवन आरम्भ परिग्रह युक्त हो, जो हिंसादि सावद्य प्रवृत्ति करते हो, अथवा सावद्य प्रवृत्ति का अनुमोदन भी करते हो और निर्ग्रंथ- प्रवचन के विपरीत उपदेश करते हो, वे सच्चे गुरुपद से दूर हैं। गुरुवर्ग का जीवन निर्दोष होगा और उपदेश शुद्ध होगा, तो उपासक वर्ग भी सम्यकमार्ग पर चलता हुआ आत्म कल्याण करेगा और गुरुवर्ग के चारित्र मे दोष होगा, प्रचार मे अजैनत्व होगा, तो उपासकवर्ग भी मार्गच्युत हो जायगा। उपासको का बहुत बडा वर्ग, गुरुवर्ग के उपदेश एव प्रवृत्ति पर से ही धर्म समझता है, श्रद्धा करता है, तथा यथाशक्ति पालन करता है। यदि उस उपासकवर्ग को गुरु पदधारी से असम्यग् मार्ग का उपदेश मिले सावद्य प्रवृत्ति की प्रेरणा हो, और वह गुरुवर्ग के जीवन मे दूषित प्रवृत्ति देखे, तो वैसी ही समझ बना कर वास्तविक जिनधर्म से वंचित रह जाता है।

इसलिए देव, गुरु और धर्म की सही जानकारी होना, सर्व प्रथम आवश्यक है। हमे सम्यग् ज्ञान एव दर्शन प्राप्त कर, सुदेव एवं सद्गुरु की आराधना करनी चाहिए।



वहुश्रुत श्रमण-श्रेष्ठ पूज्य पंडित रत्न श्री समर्थमलजी म. सा. का व्याख्यान

देव और गुरु का स्वरूप आपको प्रकाश मुनिजी ने वतलाया है। आत्मा, सुख शाति एवं पूर्णता चाहती है। संसार मे अनन्त आत्माएँ हैं, सभी सुख-शांति चाहती हैं। सभी का प्रयास सुख शाति प्राप्त करने का ही है। दुःख कोई नही चाहता। सुख-शाति और पूर्णता का प्रयास करते हुए भी जीव को दुःख मे छुटकारा नही मिला। इसका एकमात्र कारण यही है कि उसने सुख प्राप्ति का सही उपाय नही किया, न उसे सन्मार्ग-दर्शक मिला। यो मार्गदर्शक तो कई हैं, किंतु वे स्वय मार्ग से अनभिज्ञ एवं स्वार्थ से भरे हुए हैं। उन खुद को सन्मार्ग का ज्ञान नही, उनकी वुद्धि, अज्ञान अदर्शन एवं मोह से आच्छादित है, तथा दूषित कामनाओ मे युक्त है। जो स्वयं अनजान हो, जिनके हृदय मे शाति नही, सुख नही और आकाक्षाओ की आग जल रही हो, वे दूसरो को सुख-शाति और पूर्णता का मार्ग कैसे वता सकते हैं? जिस वैद्य या डॉक्टर को रोग की पहिचान नही, रोगनाशक उपाय मालूम नही और स्वयं रोग

ग्रस्त है, वह दूसरे रोगियो को निरोग कैसे कर सकेगा ? जो स्वयं मार्ग भूला हुआ है, वह दूसरों को सन्मार्ग पर कैसे लगावेगा ?

सर्व प्रथम आवश्यकता है सन्मार्ग-दर्शक की। जिसने पूर्णरूप से शाति प्राप्त करली हो, जिसकी आकुलता नष्ट हो चुकी हो, जिसकी कामनाएँ–लालसाएँ और वासनाएँ समाप्त हो चुकी हो, जो शत्रु-मित्र, अपने-पराये, पूजक-निन्दक तथा उपासक-उच्छेदक के प्रति राग-द्वेष से सर्वथा वचित हो, जिसे किसी भी वस्तु की चाह नही हो और जो समस्त लोकालोक के समस्त भावो का पूर्णरूप से ज्ञाता हो, वे वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी ही सन्मार्ग-दर्शक होते हैं। वे ही जीवो को सन्मार्ग दिखाकर पूर्ण सुख-सागर मे प्रवेश करा सकते हैं।

जीव अपने अज्ञान अन्धकार के चलते, परमात्मा के निकट रहकर भी उन्हे नही जान सका, भगवान् को नही पहिचान सका। जिस स्थान (–जिन आकाश-प्रदेशो) मे सिद्ध भगवान् हैं, उन्ही आकाश-प्रदेशो मे एकेन्द्रिय जीव भी है। सिद्ध भगवंत और सूक्ष्म जीव एक साथ रहते है। किंतु वे सिद्ध भगवंतो को नही जान पाते। अरिहत तीर्थंकर भगवतो के समवसरण मे जा कर भी जीव, अपनी अयोग्यता से वचित रह जाते हैं। सिद्ध भगवत और सूक्ष्म जीव, मुक्ति स्थान मे एक साथ रहने पर भी उन क्षुद्र जीवो को मुक्ति सुख का अनुभव नही होता, क्योकि उनकी खुद की शक्ति विलुप्त है। अपने मे नही, तो अन्य की शक्ति अपने किस काम की ? सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अनन्त सुख-शाति

के स्वामी सिद्ध भगवंतो के साथ रहकर भी दुर्भागी जीव दु खी रहते हैं। निगोद के एक गोले मे असंख्य शरीर और प्रत्येक शरीर मे अनन्त जीव होते हैं। वे जहा सिद्ध भगवान् हैं, उन आकाश-प्रदेशो मे भी हैं। अज्ञान एवं मिथ्यात्व-मोह से दबा-कुचला और क्षुद्र बना हुआ जीव, क्या जाने सिद्ध भगवतो को और उनकी परमात्म अवस्था को ? अनन्त सिद्धो के साथ सह-वास करते हुए भी जीव, उन्हे नही पहिचान पाता। उनके अनन्त सुखो को जान भी नही सकता।

एकेंद्रिय जीवो की बात छोड़ो, पचेन्द्रियो और मनुष्यो को ही देखो। गोशालक, अरिहंत भगवान् महावीर के सम्पर्क मे आ कर भी अज्ञानी, मिथ्यात्वी और विरोधी रहा। जमाली, सयमी और त्यागीत-पस्वी होते हुए भी मिथ्यात्वोदय से विरोधी हो गया। अनुकूल होकर भी प्रतिकूल बन गया। क्यो हुआ ऐसा ? अपनी ही अयोग्यता से। गोशालक तो प्रारम्भ से ही अयोग्य था। उसने भगवान् का शिष्यत्व भी स्वार्थ-बुद्धि से स्वीकार किया था और विरोधी भी स्वयं पूज्य बनने की भावना से हुआ। जमाली की मनोवृत्ति ऐसी नही थी, किंतु उसमे मिथ्यात्व का प्रवेश, एक तर्क के द्वारा हुआ। गोशालक पहले से ही सम्यग्दर्शन से रहित था, तो जमाली सम्यक्त्वी और सयमी होने के बाद कालान्तर मे मिथ्यात्वी बना। जब भगवान् के सम्पर्क मे रहनेवाले भी सन्मार्ग से वचित रह गए, तो दूसरो का तो कहना ही क्या ?

आज देव और गुरु तत्त्व पर विचार करना है। देव वे

जो सन्मार्ग-दर्शक हो। जिस मार्ग पर चलकर स्वयं देव बने, पूर्ण शाति और सुख प्राप्त किया, वे ही मुक्ति मार्ग को बता कर जीवो का उद्धार कर सकते है। जैन-दर्शन मे देव उन्ही पूज्यात्माओ का माना है–जिनकी आत्मा अज्ञान, कुदर्शन, निद्रा, मोह, मिथ्यात्व, अविरति तथा आशा-तृष्णादि समस्त घातिकर्मो से सर्वथा रहित होकर परम वीतराग, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो और ऐसी पवित्रता, निर्मलता एव सर्वज्ञता प्राप्त करके ही सन्मार्ग का उपदेश करते हो। ऐसे पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ-सर्वदर्शी ही परम शाति का मार्ग दिखा सकते है। जिनेश्वर भगवत, पहले स्वय पूर्ण बनते है, उसके बाद वे मुक्ति मार्ग का उपदेश देते हैं। बिना वीतरागता और सर्वज्ञता के दिये हुए उपदेश मे भूले हो जाती हैं और राग-द्वेष युक्त विधान होते हैं। जो स्वय सम्यग्ज्ञान से शून्य है और सम्यग्दर्शन से रहित है, वह सम्यक्मार्ग का उपदेश कैसे कर सकता है ?

जिन मे राग-द्वेष मौजूद है, जिसकी खुद की बुद्धि निर्मल नही, जो स्वयं आत्म-शुद्धि का मार्ग नही जानता, वह दूसरो का मार्ग-दर्शक नही बन सकता।

कुछ लोग कहते है कि–'अन्य देवो की भी कई बाते सत्य होती हैं, इसलिए वे भी सुदेव हैं,' तो ऐसा मानना भी भूल है। उन सत्य दिखाई देनेवाली बातो मे कई तो जैनधर्म द्वारा पूर्व प्रचारित होती है और कुछ अनायास कही हुई होती है। पूर्व प्रचारित बात को अपने मुँह से कह देने से तथा अनायास निकली हुई बात से किसी को सुदेव नही मानना चाहिए।

यह देखना चाहिए कि ऐसा कहने वाले की दृष्टि, आचरण और अन्य उपदेश मे अन्तर तो नही है ? वे कभी उसके विपरीत तो नही बोलते, विरुद्धाचरण तो नही करते ?

अन्य मतो की कुछ वाते अपेक्षा से समान दिखाई देती है। जैसे कि—अद्वैतवादी समस्त लोक मे मात्र एक ही आत्मा मानते हैं। संग्रहनय से सूत्र मे भी "**एगे आया**" कहा है। सभी जीव, पंच अस्तिकाय मे से एक जीवास्तिकाय मे और नौ तत्त्व मे से एक जीव तत्त्व मे है। इस अपेक्षा आत्मा एक माने, तो बाधा नही, किन्तु व्यक्ति अपेक्षा आत्मा को भिन्न-भिन्न नही मानकर एक माने, तो वह असत्य है, मिथ्या है। जाति की अपेक्षा जीव एक, परन्तु व्यक्ति की अपेक्षा अनन्त। जैसे जाति की अपेक्षा गेहू एक, किन्तु कण अनेक। यदि अपेक्षापूर्वक एक माने तो बाधा नही, परन्तु सभी जीव मे एक ही आत्मा मान ले, तो मिथ्या है, असत्य है।

बालक, स्लेट पेन लेकर आड़ी-टेड़ी लकीरे खिचता है, गोल-गोल घेरे बनाता है। इस प्रकार लकीरे खिचते और शून्य बनाते कभी अनायास किसी अक्षर की आकृति बन जाय तो वह बालक पढा-लिखा नही माना जाता। सन्निपात (त्रिदोष) से ग्रसित मनुष्य, अनेक प्रकार की अंटसट बाते करता है, उन व्यर्थ की बातो में एक-दो बात ठीक भी कह दे, तो वह निरोग (सन्निपात रहित) नही माना जाता। घुणाक्षर न्याय तो प्रसिद्ध ही है। घुण एक प्रकार का जीव होता है—जो लकडी को काट कर खाता है। घुण द्वारा लकडी कटते-कटते कभी 'अ' या 'क'

की आकृति भी बन जाय, तो घुण को कोई पढा-लिखा या समझदार नही मानेगा। कहा भी है कि—

"अध घेला ही जानजो, सोला दूना आठ।
तेतीस तिय निन्नाणवे, बत्तीस चोका साठ।"

'आठ के दुगुने सोलह होते हैं'—यह तो सभी जानते हैं, किंतु जो सोलह के दुगुने आठ और 'बत्तीस के चौगुने साठ' कहता है, तो इस मूर्खतापूर्ण गणित को कौन मानेगा ? हा, उसने तेतीस के तिगुणा ६६ कहे, यह ठीक है। किन्तु एक बात सत्य होने मात्र से उसे सत्यवादी या समझदार नही माना जा सकता, वह 'अध-घेला'—अर्द्ध-विक्षिप्त माना जायगा। इसी प्रकार अनेक उलटे सीधे विधानो, आचरणो या उपदेशो मे से कोई बात ठीक भी बता दे, तो ऐसा आराध्य सज्ञक "सुदेव' नही हो सकता। सुदेव, पूर्णरूप से यथार्थवादी एव हितोपदेशक ही होते है।

अन्य मतावलम्बी देव, तो अनादिनिधन—शाश्वत माने जाते हैं, किंतु जैनदर्शन ऐसा नही मानता। जैन, देवपद को शाश्वत मानता हुआ भी प्रत्येक तीर्थङ्कर देव की आदि मानता है। जितने भी तीर्थङ्कर और सिद्ध हुए, वे उसके पूर्व संसारी थे और अनन्तकाल तक ससार मे रहकर विविध प्रकार की दशा और दुःख भोग चुके थे और अनन्तकाल तक मिथ्यात्वी रह चुके थे। व्यक्तिगत कोई भी तीर्थङ्कर या सिद्ध अनादि नही होते। जैन-दर्शन के अनुसार अनन्त तीर्थङ्कर हो चुके और अनन्त भविष्य मे भी होगे, सिद्ध भगवंत भी अनन्त हुए और अनन्त होगे।

सिद्ध अवस्था मे सभी सिद्धो की ज्ञानादि शक्ति एक समान होती है और सभी तीर्थङ्कर और सामान्य अरिहन्तो की भी ज्ञान-दर्शन की शक्ति समान होती है। किसी मे कोई अन्तर नही होता। सभी ईश्वर, परमात्मा और भगवान् है। अरिहंत भी सिद्ध बन कर अन्य सिद्धो के समान हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि जैनदर्शन, किसी एक ही ईश्वर को, सर्वशक्ति सम्पन्न नही मानता। जैन-दर्शन के परम आराध्य तीर्थङ्कर और सिद्ध भगवान्, राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त होते हैं। वे न तो अपने उपासक पर राग करते हैं और न विराधक पर द्वेष करते हैं। जैनधर्म, उसे देव नही मानता—जो रागद्वेषादि दुर्गुणो से युक्त हो। जिसमें राग-द्वेष अज्ञान और असयम है, वह परमात्मा हो ही नही सकता। राग-द्वेष तो संसारियो मे होता है। असयमी जीवो से सारा ससार भरा है, आरम्भ-परिग्रह सर्वत्र है। यदि ये ही दोष भगवान् माने जाने वाले उत्कृष्ट आराध्य मे भी हो, तो वह किस प्रकार जीवो के लिए हितकारी हो सकता है?

अरिहन्त देव, परम वीतराग हैं। उनमें राग-द्वेष अंश मात्र भी नही होता, न उनके ज्ञान-दर्शन पर कोई आवरण होता है। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होते हैं। उनमे पूर्णरूप से विशुद्ध (यथाख्यात) चारित्र होता है। वे उत्कृष्ट चारित्र के धनी होते हैं। उनका अरिहंत दशा का जीवन विशुद्ध ही होता है। हमारे देवाधिदेव की बराबरी अन्य मत के आराध्य नही कर सकते। देवाधिदेव अरिहंत भगवान् तो परम वीतराग हैं ही, परन्तु उनके साधुओ मे भी जितने अशो मे निर्दोपता होती है, उतनी अन्य

परम आराध्य मे नही मिलेगी। जैन साधु हिंसादि पाप एवं असंयम से रहित होते हैं, ब्रह्मचारी होते है, उनकी चर्या निरारम्भी होती है ऐसी चर्या अन्य आराध्यो की नही होती। उनके जीवन मे हिंसादि पाप, असयम, विषय-कषाय आदि दोष स्पष्ट दिखाई देते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि–'हमे किसी की निन्दा नही करनी चाहिए, दोष नही देखना चाहिए। किसी को बुरा और किसी को भला कहना रागद्वेष है।' किसी की निन्दा करना तो बुरा है ही, निन्दा तो किसी की भी नही करनी चाहिए। परंतु भले-बुरे, हिताहित और सत्यासत्य का विवेक रख कर बुरे, अहितकारी तथा असत्य का त्याग कर, भले हितकारी और सत्य का आदर करना तो आवश्यक है। जैसे को तैसा कहना बुरा नही है। बालक बडीनीत करके शरीर और वस्त्र खराब कर दे, तो उसे बुरा ही मानेंगे, 'अच्छा किया'–ऐसा कोई नही कहेगा। इस प्रकार बुरा कहना बच्चे के प्रति द्वेष से नही होता। वह कार्य ही बुरा है, इसलिए उसे बुरा कहा गया।

कोई अपनी पत्नी के भाई को "साला" कहे, तो वह गाली नही मानी जाती, किंतु बिना नाते (सम्बन्ध) के 'साला' कहे, तो गाली मानी जाती है। इसी प्रकार स्वरूप बताते हुए जो जैसा है, वैसा कहने को गाली या निन्दा नही माननी चाहिए।

किसी व्यक्ति ने किसी अपरिचित व्यक्ति के विषय मे पूछा–'यह कैसा आदमी है ? इससे लेन-देन या व्यवहार करने मे कुछ हानि जैसा तो नही है ?' तब जानकार व्यक्ति यदि

सोचले कि–मैं किसी के दोष क्यो बताऊँ ? दोष दिखाना तो निन्दा है। मुझे तो प्रशसा ही करनी चाहिए।' इस प्रकार विचार कर उसने उस धूर्त की प्रशंसा कर दी और सचाई, ईमानदारी आदि जो गुण उसमे नही थे, वे बतला दिये। उसकी बात पर विश्वास करके पूछने वाला ठगा गया। वह धूर्त उसे लूट गया। ठगाये हुए व्यक्ति ने उस प्रशसक के पास जाकर कहा–"तुमने मुझे बरबाद कर दिया। तुम्हारी की हुई धूर्त की प्रशंसा ने मुझे डुबा दिया। मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था ? तुम मेरे थे और उस धूर्त से परिचित थे, फिर भी मुझ से सत्य हकीकत क्यो छुपाई और क्यो झूठी प्रशंसा की ? तुम्हारी की हुई प्रशंसा ने मेरा और मेरे परिवार का जीवन बरबाद कर दिया। बोलो तुमने मुझ निरपराध को धोखा क्यो दिया ?"

प्रशसक कहने लगा–"भाई ! मैं तुम्हारा शत्रु नही, मित्र हूँ, हितैषी हूँ। मैंने तुम्हे हानि पहुँचाने के लिए प्रशसा नही की, किन्तु इसलिए प्रशंसा की कि किसी के दोष देखना और दोष बताना पाप है, निन्दा है। कोई भला आदमी किसी की निन्दा नही करता, किसी के दोष नही देखता, वह तो गुण ही देखता है। मैंने भी उसके गुण ही बताये।"

"क्या उसमे ईमानदारी और सचाई के गुण थे ?"

–हा हा, थे। वह ईमानदारी बता कर ही अपना कार-बार जमाता है। धोखा तो वह कभी-कभी देता है। यहां भी इतने दिनो तक ईमानदारी से काम किया। उसने बेईमानी तो सिर्फ एक ही दिन की, जो सब का पैसा दबा कर भाग गया।

इसके सिवाय तो वह ईमानदार ही रहा। इस गुण की उपेक्षा करना और थोड़-से दोष दिखा कर निन्दा करना पाप है। मैं ऐसा पाप क्यो करूँ"—उसने सफाई दी।

—"वाह भाई वाह ! तुम्हारी बुद्धिमानी और गुण-ग्राहकता ने मुझे ठगाया। उस ठग की ईमानदारी और सचाई तो प्रदर्शन मात्र थी, ठगाई के लिए थी। उसके भीतर बेईमानी छुपी थी। तुम्हारे जैसे गुण-ग्राहक भी खतरनाक होते हैं—यह मैने आज समझा,"—यह कहता हुआ और अपने भाग्य को कोसता हुआ वह चला गया।

मिथ्यात्व को मिथ्यात्व और अनार्य को अनार्य कहना सत्य है। भगवान् ने भी आगमो मे—"**मिच्छदिट्ठी अणारिया**" कहा है। यदि उपदेशक, मिथ्यात्व, असयम, अब्रह्मचर्य और कुदेवादि का यथार्थ स्वरूप नही बताएँगे, तो वे यथार्थ वक्ता नही होगे। उनका उपदेश हितकारी नही होकर दुखदायक होगा। वे उस भाई की तरह हानि उठाएँगे। जो वैद्य या डॉक्टर, रोगी के रोग को नही देखे, उसे रोग और उसके कारणो से बचने का परामर्श नही दे, कुपथ्य मे भी सावधानी नही दिलावे, पीने को कडवी दवा नही दे, और इन बातों को दोष-दर्शन या रोगी के दिल को दुखाने वाली समझे, तो वह रोगी का रोग छुडाने वाला माना जायगा, या प्राणमुक्त करने वाला ?

पाप और उसके स्थानो, कुमार्ग और उसके निमित्तो तथा ससार मे परिभ्रमण करवाने वाले और जीव को दुख

परम्परा बढाने वाले आराध्यो की पहिचान करवाना, न तो दोष-दर्शन है, और न निन्दा ही। यह हितकारी सत्य उपदेश है। जो सत्य मार्ग नही बता कर मिथ्या उपदेश देता है, वह अनेक जीवो का घातक है, दु ख-परम्परा बढाने वाला है, एव बहुतो का प्राप्त मानव-भव बिगाडने वाला है।

वर्त्तमान मे–"सर्वधर्म समभाव" की ऐसी प्रवृत्ति चल रही है कि जिसे देख-सुन कर आश्चर्य होता है। वे कहते हैं–"हमे किसी को खरा या खोटा, अच्छा या बुरा नही कहना चाहिए, हमे तो सब के प्रति समभाव रखना है।" ऐसे भाई काँटे को 'फूल माला' नही कहते, विष का देख कर बचते है और कुटुम्ब तथा बच्चो को भी विष से दूर रखते हैं। वे ऐसा क्यो करते हैं? क्या काँटे से उनका द्वेष है? विष से उनका वैर है? नही, यह द्वेष और वैर नही, कुटुम्ब की हित-कामना है।

गोबर और शीरे (हलुए) के प्रति समभाव रख कर कौन समाचरण करेगा? यदि कोई ऐसा करेगा, तो वह पागल माना जाएगा। विष्टा और रोटी मे समभाव की बात नही करते, तो कुदेवादि और सुदेवादि मे समभाव की बाते क्यो की जाती है?

रास्ते चलते हुए काँटा, पत्थर, खड्डा आदि को टाल कर जाते हो, या वैसे ही चले जाते हो? यदि काँटा और खड्डा टालते हो, तो समभाव कहा रहा? काँटे और खड्डे को टाल कर साफ रास्ते से जाते हो किंतु जब लोकोत्तर साधना की बात आती है, तो कुमार्ग और सुमार्ग मे समभाव की बाते करके खुद

भी सुमार्ग से वचते हो और दूसरो को भी वचाते हो। क्या यह उचित है ?

खाने मे कंकर आ जाय, तो गले से नीचे नही उतारते, पीने मे कचरा आ जाय, तो सारे लोटे का पानी ढोल देते हो, चलने मे काँटा लग जाय, तो उसे उसी समय निकाल कर फेंक देते हो, तव मिथ्यादर्शन के शल्य को निकाल फेकने और उससे वचने मे समभाव का अडगा क्यो लगाया जाता है ?

पगडी को पैरो मे नही लपेटते, कुर्ते को धोती की जगह नही पहिनते, स्त्रियो का लहँगा, साडी और चोली, पुरुष नही पहिनते ? क्यो, क्या राग द्वेष है इसमे ? सोना, चाँदी, हीरे, मोती और गहने, तिजोरी मे रखते हो और पत्थरो को खुले मे ही पडे रहने देते हो। इसमे भी कीमती पत्थरो की तो सम्हाल भी करते हो, वाकी यो ही पडे रहते हैं, क्या यह सव समभाव के लक्षण है या राग-द्वेष का विषय है ? रत्नो को वाहर फेंक कर पत्थरो को तिजोरी मे भरने वाले को क्या कहोगे ?

कपडा पहनने मे विवेक रखते हो, भोजन मे विवेक, फूल और काँटे मे, हीरा और पत्थर मे तथा लहँगा और धोती मे विवेक रखते हो, माता, वहिन, पत्नी, पुत्र, ससुर आदि मे विवेक एव भेद रखते हो, तव धर्म मे—आत्म-कल्याणकारी धर्म मे ही 'समभाव' की वात क्यो की जाती है ? "हमारे तो यु माने तो क्या और वैसा माने तो क्या," यह गोटाला क्यो चलाया जाता है ? लौकिक वातो मे तो विवेक रखना और लोकोत्तर

बातो मे नये अड़ंगे खडे करना क्या बुद्धिमानी है ? पाप, पाप ही रहेगा, पाप और पुण्य, अधर्म और धर्म मे समभाव का उपदेश देने वाला, समझदारो की श्रेणी मे नही आता।

ससार मे अनेक मत-मतान्तर हैं। उनमे से जो हमे अच्छा, उत्तम और सत्य लगे, उसे माने, तो यह हमारा द्वेष नही, विवेक है। विवेकपूर्वक हितकारी को अंगीकार करना और अहितकारी को छोडना ही आत्मा के लिए कल्याणकारी है।

आराधना करने वाले व्यक्ति को अपना आराध्य चुनने मे वड़ी सावधानी रखनी चाहिए। जो अज्ञान, निद्रा, राग-द्वेप, काम, मिथ्यात्व, असयम, हास्यादि से रहित हो, पूर्ण वीतराग हो, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो, जिसका उपदेश जीव को निर्मल, विशुद्ध एवं परम सुखी बनाने वाला हो, वे ही देवपद मे आराध्य हैं और वे हैं श्री अरिहंत भगवत। जब अरिहंत भगवत आयु पूर्ण कर लेते हैं, तो सिद्ध वन जाते हैं। फिर वे सादि अनन्त काल उसी अवस्था मे रहते हैं। अनन्त अरिहत भगवंत, सिद्ध हो चुके। हमारे लिए देवपद मे आराध्य अरिहंत और सिद्ध भगवान् हैं। अरिहत भगवान् के चार अघाती कर्म जीवन पर्यन्त रहते हैं, सिद्ध भगवत निष्कर्म, निष्कलंक, अशरीरी, अयोगी और अडोल-निष्कम्प होते हैं। अरिहंत और सिद्ध भगवंत दोनो देव-पद मे आराधने योग्य हैं। इनकी आराधना मुक्ति-दायिनी है।

गुरु का स्वरूप भी आप सुन चुके हैं। अरिहंत भगवंत और सिद्ध भगवत देवपद मे हैं और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु, गुरुपद मे है। देव मे वीतरागता और सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता

आवश्यक है, अनिवार्य है, तो गुरुपद मे निरारम्भी, निष्परिग्रही एव निरवद्य जीवनरूप सम्यक् चारित्र होना आवश्यक है। पाच महाव्रत, पाच समिति और तीन गुप्ति का पालन, गुरुपद मे होना ही चाहिए। जो जिनेन्द्र की आज्ञा के पालक हो, जिनकी जिनागमो पर श्रद्धा हो, जिनका उद्देश्य मुक्ति प्राप्त करने का हो, जो श्रमण-समाचारी का पालन करते हो, वे गुरुपद मे है। ऐसे मुनि-महात्मा आचार्य हो, उपाध्याय हो, या सामान्य साधु हो, वे सब गुरुपद मे है। ज्ञान की न्यूनाधिकता हो सकती है, तप मे भी कमी-बेशी चल सकती है। भले ही कोई कम पढा-लिखा हो, उपवासादि तप नही कर सकता हो, परन्तु जिनकी श्रद्धा शुद्ध हो, श्रमण-समाचारी के पालक हो, तो वे गुरुपद मे वन्दनीय है। यदि श्रद्धा शुद्ध नही हो, तो पूर्वो का ज्ञान पढे हुए संयम की उत्तम पालना करते हुए और उग्र तप करते हुए भी वे प्रथम गुणस्थानी मिथ्या-दृष्टि हैं। वे गुरुपद मे नही माने जाते। साधु आचार का शुद्धरूप से पालन करते हुए, ऊपर की ग्रैवेयक मे जाने वाले साधु भी श्रद्धा के अभाव मे पहले गुण-स्थान मे मिथ्या-दृष्टि माने जाते हैं।

गुरुपद गुणो से प्राप्त होता है, वेश से नही। वेश तो सयम पालन मे सहायक उपकरण है। यदि संयम की रुचि और पालना नही हो, तो वेश केवल वंचना का निमित्त हो जाता है। साधुता गुणो मे है। सिक्के मे चाँदी शुद्ध हो और उस पर छाप भी शुद्ध हो, तो वह चलन मे आ सकता है। केवल छाप देख कर ही शुद्ध सिक्का नही मान लिया जाता। खाली छाप

तो नकली सिक्के पर भी होती है। बिना छाप की या खोटी छाप की चाँदी, सिक्के के रूप मे नही चल सकती। इसी प्रकार साधुता के गुणयुक्त वेश होने पर ही गुरुपद मे समादरणीय होते है। भावोत्कर्ष से तो गृहस्थ भी सातवे गुणस्थान मे पहुँच सकता है और भवस्थिति का अंत होना हो, तो केवलज्ञान पाकर अरिहंत हो सकता है, परंतु बिना साधु-वेश के वे जनता मे साधुरूप मे समादरणीय नही होते। यदि आयु-स्थिति विशेष हो, और वे गृहस्थ-वेश या अन्यलिंगी हो, तो वह वेश छोड कर साधु-वेश धारण करते हैं। इसके बाद ही वे जनता द्वारा साधुरूप में पहिचाने जाते हैं और तभी वे उपदेश देते हैं, शिष्य करते हैं। भरतजी को गृहस्थ-वेश मे ही केवलज्ञान हो गया था। केवलज्ञान होने के बाद उन्होने आभूषण उतारे और श्रमण-वेश धारण किया। इसके बाद ही उन्होने राजसभा मे जाकर उपदेश दिया और दीक्षाएँ दी। वेश, सयमी के सयम-साधन का निमित्त भी है और ढोगी के लिए ठगाई का निमित्त भी हो सकता है। इस वेश मे रह कर अनन्त जीवो ने आत्म-कल्याण किया और बहुतो ने पतन भी किया। उदायी नृप की हत्या करने वाला भी साधु-वेशी ही था। उसने ऐसा ढोग रचा कि सभी साधुओ, श्रावको और आचार्य तक का विश्वासपात्र बन गया। जो साधुता के योग्य ज्ञान-दर्शन और चारित्र से युक्त हो, वे ही गुरुपद मे आराधने योग्य हैं। यदि उनमे से कोई गूढ मिथ्यात्वी हो और उसके हृदय मे मिथ्यात्व की गाठ हो, फिर भी प्ररूपणा शुद्ध होने के कारण वह वदनीय हो जाय, तो भी वंदना करने वाले

को दोष नही। क्योकि उसके सामने उसका मिथ्यात्व नही आता। यदि उसकी प्ररूपणा विपरीत हो, तो वह निन्हवो की तरह अवन्दनीय समझा जाता है। जानबूझ कर मिथ्याप्ररूपक और अनाचारी को वन्दनादि करना वुरा है। इससे मिथ्यात्व और अनाचार का आदर होता है। यह पाप का समर्थन है।

आपको सुदेव और सुगुरु की श्रद्धा रख कर आराधना करनी चाहिये। इस विषय मे विशेष जानने और समझने के लिए दिन को चर्चा हो सकती है।

मेरा वक्तव्य

देव और गुरु तत्त्व के विषय मे श्री प्रकाश मुनिजी म. तथा गुरुदेव ने वहुत कुछ प्रतिपादन कर दिया है। मैं विशेष क्या कहूँगा ? देव और गुरु पद की सामान्य जानकारी प्रत्येक जैन को होती है। फिर शिविर मे इस विषय को प्राथमिकता क्यो दी गई ? यह ठीक है कि देव-गुरु के विषय मे जैन जनता अपरिचित नही, नमस्कार मन्त्र जानने वाला देव-गुरु से अपरिचित कैसे रह सकता है ? फिर भी देव का देवत्व क्यो है और किस कारण है,—इस विषय पर वहुत-से जैनबन्धु विचार नही करते। यह तो आप सुन ही चुके है कि देव का देवत्व, वीतरागता, सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता और हितोपदेशकता मे है। हम इसीलिए उन्हे देव मानते है, भौतिक ऋद्धि-सिद्धि के कारण नही। हम इसलिए अरिहन्त भगवत को देव नही मानते कि वे राजकुमार

या राजा थे, वे सुन्दर एवं अनुपम शरीर वाले थे, उनके शरीर मे अपरिमित बल था, वे महान् ऋद्धि के स्वामी थे और देव-पूजित थे। असख्य देवो का स्वामी इन्द्र उनकी वन्दना क्यों करता है ? क्या उसके पास रूप, सौंदर्य, शक्ति और ऋद्धि-सिद्धि नही है ? वह अर्हंत भगवंत की आराधना इसीलिए करता है कि अरिहत भगवत ने मोह को नष्ट कर दिया है। वे परम वीतराग है और इन्द्र मोह से दबा हुआ है। वह मोहमत्त हो जाता है और यह मोह उसे जन्म-मरण के चक्कर मे उलझाये रखता है। उसकी यह देव-ऋद्धि इस जीवन पर्यन्त ही है। फिर इस ऋद्धि और देवागनाओ का स्वामी कोई दूसरा ही होगा। उसे माता के उदर मे जन्म लेना ही पडेगा। अरिहंत भगवंत तो अजन्मा हो चुके हैं। इन्द्र को भी भगवान् की वीतरागता और अजन्मापन की चाह है। वह सम्यग्दृष्टि है। वह सोचता है कि अरिहंत की उपासना करके मैं भी वीतराग बनूं—अपनी अरिहंत दशा प्रकट करके अजन्मा बनूं। इसीलिए वह अरिहंत भगवत को वंदना करता है, आराधना करता है।

बन्धुओ! अन्य देव तो स्वयं मारक और तारक बनते हैं। वे अपने को कर्त्ता बतलाते हैं, किन्तु जिनेश्वर देव ऐसा नहीं कहते। गोशालक ने भगवान् के दो शिष्यो की घात कर दी और भगवान् पर भी तेजोलेश्या का प्रहार किया, फिर भी उन्होंने एक शब्द भी नही कहा। उनके ललाट पर एक रेखा भी नही पड़ी। वे वीतराग ही रहे। उनके शिष्य गौतम स्वामीजी आदि अनेको के पास ऐसी लब्धियां थी जो गोशालक को तत्काल भस्मीभूत

कर सकते थे और वे वीतरागी भी नही थे। फिर भी वे वीतराग के उपासक, शान्त ही रहे। यह हमारे देवाधिदेव की पूर्ण वीतरागता का ज्वलत प्रमाण है। क्या ऐसी वीतरागता किसी अन्य उपास्य देव मे है? जो स्वयं शस्त्र धारण किये रहते है, वे भी क्या वीतराग हो सकते हैं? जो रुष्ट होकर शाप दे और प्रसन्न हो कर वरदान दे, वे वीतराग कैसे हो सकते हैं?

जो देव, सृष्टि के कर्त्ता, सचालक, पालक और सहारक बनते हैं, उनकी वाते सत्य नही है। कोई भी समझदार कर्त्ता अपनी वस्तु अच्छी ही बनाता है, बुरी वस्तु कोई नही बनाता। अपनी वस्तु का पालन और रक्षण सभी करते है। बना कर मिटाने का बच्चे जैसा कार्य कोई नही करता। किन्तु कर्त्ता बनने वाले देवो की सृष्टि मे मनुष्य भी हैं और साँप, बिच्छु, सिंह तथा कीडे मकोडे भी। कोट्याधिपति एव संपत्तिशाली भी हैं और दीन हीन दरिद्री भी। एक सत्ताधारी पीड़क भी है और दूसरा निर्बल नि सहाय पीडित भी। इस प्रकार की सृष्टि क्यो बनाई–उस ईश्वर ने? चोर, डाकू, हत्यारे, व्यभिचारी और अत्याचारी का निर्माण करके पाप को बढाने वाला भी क्या दयालु ईश्वर हो सकता है? अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुष्काल, भुखमरी, रोग और महामारी का सर्जन करने वाला ईश्वर है, या पिशाच? खुदा है या शैतान? यदि वह दयालु ईश्वर है और कर्त्ता है, तो गोवध क्यो नही रोकता? दुष्काल–दुर्भिक्ष क्यो उत्पन्न करता है? नदियो मे बाढ, भूकम्प और महामारी क्यो करता है? रिश्वतखोरी, लूटपाट, व्यभिचार क्यो करवाता है?

उसने नादिरशाह, हिटलर, मुसोलिनी आदि बर्बर और युद्धखोर मनुष्य क्यो उत्पन्न किये ? सोमनाथ भजक के हाथ से अपनी रक्षा क्यो नही की + ? मन्दिरो के भगवान् की मूर्तियाँ, छत्र

+ इस स्वतन्त्र भारत मे तो भगवान् के भूखो मरने की नौबत आगई। 'नव-भारत-टाइम्स' २६-८-६७ के प्रथम पृष्ट पर "देव भी भूखे" शीर्षक से निम्न समाचार छपे हैं =

"कालीकट २५ अगस्त (प्रे. ट्र.) देवस्थान मन्त्री श्री डी. आर. कुरूप ने बताया कि केरल में खाद्य सकट से देवता भी मुक्त नहीं है और अधिकाश मदिरों के आराध्य देव 'भूखे' ही हैं। आपने कहा कि मन्दिरों की भूमि के काश्तकार मन्दिरों को धान के रूप में किराया नहीं दे रहे है, अत. स्टाक की स्थिति भी बहुत खराब है। खुले बाजार में पर्याप्त मात्रा में चावल मिल नहीं रहे हैं और सरकार मन्दिरों के लिए विशेष निर्धारण करने की स्थिति में नही है। इससे देवो की कोई विशेष स्थिति नहीं रही है और अधिकाश देवों को भोज में चावल नहीं है। एक प्रश्न के उत्तर में श्री कुरूप ने बताया कि कुछ मन्दिरों में दूध और फलों का भोज आरम्भ हो गया है। आपने कहा कि गुरुवयूर के मन्दिर के भगवान् कृष्ण भी इस कठिनाई से मुक्त नहीं है। मद्रास-राज्य, जिसने गत वर्ष इस मन्दिर की सहायता की, इस वर्ष चावल लाने की अनुमति नहीं दे रहा है। केरल सरकार इस मन्दिर के लिए चावल लाने के उद्देश्य से मद्रास-सरकार के साथ पत्र व्यवहार कर रही है।"

नोट—उपरोक्त स्थिति मे भी कोई भगवान् को कर्त्ता माने, तो फिर बुद्धिमानी का दिवाला ही समझना चाहिए। यह स्थिति भगवान् से भी सरकार और काले-बाजार को शक्तिशाली बता रही है। पैसे वाले मनुष्य खुले बाजार से चावल खरीद सकता है, तब लक्ष्मीपति भगवान् भूखो मरे, यह कैसी बात है ?

आदि चोर क्यो ले जाते हैं ? यरुसलम की छिनाझपटी क्यो होने दी ? अपने भक्त पाकिस्तानी के हाथो, छम्ब आदि की मस्जिदो पर बम गिरा कर नष्ट क्यो करने दिया ? इत्यादि प्रश्न ईश्वर-कर्त्तृत्व पर उत्पन्न होकर असत्य का पर्दा हटा देते है । जब कहा जाता है कि 'खुदा के हुक्म के बिना एक पत्ता भी नही हिल सकता,' तो क्या यह मानना होगा कि जितनी भी बदी होती है, वह सब खुदा के हुक्म से होती है ? खुदा शैतान से डाह करता है, तो उसे उत्पन्न ही क्यो किया ? खुदा मे इतनी ताकत नही कि वह शैतान को दबा सके, या नष्ट कर दे ? क्या शैतान पर खुदा की खुदाई नही चल सकती ?

जो ईश्वर अपने भक्तो से कहे कि—'खुदा की राह मे लडो,' हमने तुम्हारे लिए दरिया की मच्छियाँ हलाल की, बाँदियाँ हलाल की. . जो युद्ध की प्रेरणा देता है, युद्ध विरत को युद्ध करने को प्रोत्साहित करता है और शत्रु-सहार के लिए अनासक्ति का उपदेश देता है, वह तो स्पष्ट ही मोहग्रस्त मानव जैसा है ।

वीतराग जिनेश्वर भगवत न तो स्वयं कर्त्ता बनते हैं, न हर्त्ता । उन्होने कहा—"आत्मा स्वय अपने हित-अहित का कर्त्ता है । अपने सुख दु ख, उत्थान पतन और ईश्वरत्व पद का प्राप्त करने वाला स्वय आत्मा ही है । हमारे देवाधिदेव बताने वाले है, बनाने वाले नही । वे मार्गदर्शक हैं, चलना तो हमे ही पड़ेगा । भ० महावीर ने अपने प्रथम गणधर श्री गौतमस्वामी से कहा— 'गौतम ! तुम्हारे सर्वज्ञ बनने मे तुम्हारा मोह बाधक हो रहा

है। तुम्हारा मेरे प्रति अनुराग है।' यह स्थिति बतला रही है कि जैनधर्म का देव-तत्त्व विशुद्ध है। विशुद्ध दर्शन पर आधारित है। इसमे अन्यथा कुछ भी नही है। हमारे देवाधिदेव स्वयं कभी नारकी के नेरिये और निगोद के क्षुद्रतम जीव भी थे। उन्होंने अपनी आत्मा के देवत्व को जगाया—प्रेरित किया और साधना करके देव पद प्राप्त किया। उन्होने कहा—'मनुष्य! तुम भी अपनी आत्मा मे सुप्त देवत्व को जगा कर स्वयं देवाधिदेव बन सकते हो। तुम स्वयं विषय-कषाय का त्याग कर परमात्म-पद प्राप्त कर सकते हो। उठो, प्रमाद छोडो, मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यक्त्व स्वीकार करो।'

हमारे जिनेश्वर देवो का उपदेश निर्दोष है। उनके विशुद्ध चारित्र जैसी निर्दोषता अन्य किसी मे नही है। उन्होने जिस विशुद्ध अहिंसा का प्रतिपादन किया, उसका पालन भी किया है, वैसा किसी अन्य देव का जीवन नही था। बुद्ध अपने को अहिंसक बतलाते हैं, किन्तु उनकी अहिंसा भी नाममात्र की है। वे स्वय मास-भक्षी थे। वे अपने सैकड़ो साधुओ के साथ भक्त के यहाँ भोजन करने जाते थे। उनके लिए विशेष आरंभ कर और पशु को मार कर, मास तय्यार कर, उन्हे खिलाया जाता था और वे खाते थे। उनके शास्त्र मे उल्लेख है कि सूअर के मास का भक्षण करने के बाद उठे हुए विकार से वे मृत्यु को प्राप्त हुए।

बुद्ध सर्वज्ञ भी नही थे। उनकी छद्मस्थता का प्रमाण 'विनयपिटक महावग्ग महास्कंध' मे मिलता है। वहाँ बताया है

कि–बोधि प्राप्त बुद्ध अपनी विवक्षा के प्रारभ मे सोचते हैं–

'मैं सर्वप्रथम इस धर्म की देशना किसे करूँ, इस धर्म को शीघ्र ही कौन ग्रहण कर सकेगा ?' तत्काल ही उनके मन मे आया, "आलार-कालाम मेधावी, चतुर व चिरकाल से अल्प मलिन चित्त है। क्यो न मैं उसे ही सर्वप्रथम धर्म की देशना दूँ। वह उसे शीघ्र ही ग्रहण कर लेगा।" प्रच्छन्नरूप से देवताओ ने कहा–"भन्ते ! आलार–कालाम तो एक सप्ताह पूर्व ही मर चुका है।" बुद्ध को भी उस समय ज्ञान-दर्शन हुआ और उन्होने इस घटना को जाना। साथ ही उन्होने सोचा, "आलार-कालाम महाआजानीय था। यदि वह इस धर्म को सुनता, शीघ्र ही ग्रहण कर लेता।" फिर उन्होंने चिन्तन किया–"उद्दकरामपुत्र चतुर, मेधावी व चिरकाल से अल्प मलिन चित्त है। क्यो न मैं पहले उसे ही धर्मोपदेश करूँ। वह इस धर्म को शीघ्र ही ग्रहण कर लेगा।"–देवताओ ने गुप्त रूप से उन्हे सूचित किया–"भन्ते ! वह तो रात को ही कालधर्म को प्राप्त हो चुका है।" बुद्ध को भी उस समय ज्ञान-दर्शन हुआ।

"चिन्तनलीन होकर बुद्ध ने फिर सोचा–'पचवर्गीय भिक्षु मेरे बहुत काम आए हैं। साधना काल मे उन्होने मेरी बहुत सेवा की थी। क्यो न मैं उन्हे सर्वप्रथम ही धर्मोपदेश करूँ।" आगे उन्होने सोचा–"इस समय वे कहा है ?" उन्होने अमानुष दिव्य नेत्रो से देखा–"वे तो इस समय वाराणसी के ऋषि-पतन मृग-दाव मे विहार कर रहे हैं +।"

+ 'श्रमण' मई ६७ "महावीर और बुद्ध कैवल्य और बोधि" शीर्षक मुनि श्री नगराजजी के लेख पृ. ५ से।

वोधिलाभ के वाद बुद्ध का इस प्रकार सोचना और चिन्तन करना, उनको सराग एवं छद्मस्थ होना प्रमाणित करता है। यदि वे वीतराग होते, तो धर्मोपदेश की तालावेली क्यों रहती ? सर्वज्ञ होते, तो सोचने–चिन्तन करने की आवश्यकता ही क्यो होती और असत्य चिन्तन भी क्यों होता ? जो मर चुका, उसे जीवित मान कर उपदेश देने का विचार ही क्यो उत्पन्न होता ? वास्तव मे यदि उन्होने ऐमा चिन्तन कर के मन से ही जाना है, तो अधिक से अधिक वे विभंगज्ञानी माने जा सकते हैं। अतएव बुद्ध भी न तो वीतराग थे न सर्वज्ञ। वे सराग एव छद्मस्थ ही थे। उनके मास-भक्षण का ही यह परिणाम है कि बौद्ध समुदाय और उसका त्यागी वर्ग मांस-भक्षी एवं हिंसक हो गया।

कुछ देवो की विडम्बना देखो। वे आराम से अर्द्धांगना के साथ सोये हैं। किन्तु अचानक भक्त के स्मरण करते ही अपना अस्त्र लेकर दौड पडते हैं। उनकी नीद और आराम सव हराम हो जाता है। भक्त के अधीन यदि भगवान् हो, तो ऐसे भगवान् से तो भक्त ही वडा हुआ, जिनके लिए भगवान् को भी भाग-दौड करनी पडती है। ऐसे भगवान् को निरावाध सुख कहाँ ? ऐसी वेढगी स्थिति जिनेश्वर भगवंत की नही है। वे अनन्त शक्ति के स्वामी होते हुए भी किसी को नही सताते और न किसी के लिए भागदौड करते हैं। वे पवित्र सरोवर के समान हैं, जो चाहे, उनसे धर्मामृत का पान कर पवित्र हो जाय। वे उस सूर्य के समान हैं, जिसके प्रकाश मे मनुष्य अपना मार्ग

पाकर सुखी हो जाय।

देवाधिदेव अभी हमारे लिए परोक्ष हैं। हम उन्हे प्रत्यक्ष नही देखते, किन्तु इससे उनका सर्वथा अभाव नही मान लेना चाहिए। सर्वोत्तम वस्तुएँ सदाकाल नही होती, न अधिक मात्रा मे ही होती है। परमोत्तम वस्तु कभी किसी समय मे एकाध ही होती है। इस समय कोहीनूर हीरा सर्वोत्तम माना जाता है, किन्तु वह एक ही है और वह भी भारत के बाहर है। हमने उसे देखा नही, फिर भी उसका अस्तित्व तो है ही। इसी प्रकार जिनेश्वर भगवंत इस समय हमारे लिए परोक्ष है, परन्तु महाविदेह मे प्रत्यक्ष है। वैसे राम, कृष्ण, बुद्ध आदि अन्य देव भी तो परोक्ष ही हैं, फिर भी इनका भूतकाल मे अस्तित्व था। इन्हे ऐतिहासिक महापुरुष माना जाता है, वैसे ही भगवान् महावीर भी थे, भगवान् पार्श्वनाथजी भी हुए थे। उनको इतिहासकारो ने भी माना है। बौद्ध ग्रथो मे उनका उल्लेख है और उन्हे सर्वज्ञ भी माना है। वेदो और पुराणो मे भगवान् आदिनाथ आदि का भी उल्लेख है। इतिहास, भूतकाल मे असख्य एव अनन्त काल (वर्ष) नही जान सकता, वह सख्यात काल भी पूरा नही जान सकता। किन्तु अनादि संसार मानने वालो को भूतकाल के अनन्त तीर्थंकर भी मानना ही होगा। हमारे सिद्धात विशुद्ध है। हमे उन पर विश्वास रखना चाहिए।

कुछ लोग देवाधिदेव के अतिशयो पर विश्वास नही करते। वास्तव मे वे अपनी साधारण दृष्टि के समान ही सत्य की परिधि मानते हैं। जो वस्तु उन्हे दिखाई नही दे, जो उनकी

समझ मे नही आवे, वह सब असत्य, ऐसी उनकी दृष्टि बन गई है। वे दीर्घ दृष्टि से विचार नही करते। तीर्थंकर नामकर्म एक सर्वोत्तम पुण्य-प्रकृति है। जो भव्यात्मा इस उत्कृष्ट पुण्य-प्रकृति का बन्ध करती है, वह वैसे अतिशयो से युक्त होती ही है। श्री वीरचन्द राघवजी गांधी ने अपने आसपास प्रभामण्डल दिखा कर अमेरिकावासियो को अचरज मे डाल दिया था। संसार मे ऐसे जादूगर भी हैं जो अनहोनी करके बतला देते हैं, फिर जिनेश्वरो के पुण्यफल स्वरूप अतिशय होने मे सन्देह क्यों होता है ? उत्कृष्ट पुण्य-प्रकृति का उत्कृष्ट फल होना समझ मे आने जैसा है।

जिनेश्वर भगवंत का पूर्ण स्वरूप तो गणधर भगवंत भी नही बता सकते। सर्वज्ञ का स्वरूप सर्वज्ञ ही जान सकते हैं, वे भी उस पूर्ण स्वरूप का वर्णन तो आवश्यक थोड़े ही शब्दो मे करते हैं। गुरुदेव ने आपको देव का स्वरूप बताया ही है, फिर मैं अल्पज्ञ आपको विशेष क्या बता सकता हूँ।

अब मैं देव आराधना के विषय मे आपसे कुछ निवेदन करूँगा। बन्धुओ ! जैनदर्शन विशुद्ध होते हुए भी इस पर परि-स्थितियो का प्रभाव हुआ है। उदयभाव की मलिनता ने देव की आराधना पर भी बहुत बुरा प्रभाव डाला है। आप आगमो को देखेंगे, तो उनमे देव-वन्दना की जो विधि दिखाई देती है, वही उत्तम, निर्दोष तथा आदरणीय है। हमारे परम उपास्य देव, सर्व त्यागी, परम वीतरागी निर्ग्रंथनाथ हैं। उन्होने धन-धान्य, एवं सचित्त पदार्थों का सर्वथा त्याग करके साधुता स्वीकार की।

जिस दिन उन्होने साधुता स्वीकार की, उसी दिन से उन्होने स्नान, मर्दन, विलेपन, पत्र, पुष्प, फल, माला, अलकार, इत्रादि गंध और धूप-दीपादि का सर्वथा त्याग कर दिया था। देवपद प्राप्त करने के बाद भी उन्होने इन पदार्थो का सेवन नही किया। उनके उपासक बडे-बडे कोटयाधिपति, राजा-महाराजा और सम्राट भी थे, देव और इन्द्र भी थे, परन्तु किसी ने उन देवाधिदेव को स्नान नही कराया, केसरचन्दनादि का विलेपन नही किया, पुष्प, माला और इत्रादि की भेट नही की, मुकुट कुडल नही पहिनाये, अक्षत और धन की भेट नही चढाई और मेवा-मिष्ठान्न भी अर्पण नही किया। ढोल-नगाडे नही वजाये, किंतु वाद मे अन्य सराग देवो की पूजा-महापूजा और प्रतिष्ठा का अनुकरण जैन परम्परा मे भी हुआ। इसका कारण मनुष्य की उत्सव-प्रियता है। प्रारम्भ मे इसका कारण साधारण जैन-जनता के अजैन सस्कृति की ओर बढते हुए आकर्षण को रोकना ही रहा होगा, किन्तु वाद मे तो यह दूषित भक्ति, धर्म का प्रमुख अंग ही बन बैठी। यह सब विकार है, दोष है और त्यागने योग्य है।

जिनागमो मे उपासको की भक्ति का वर्णन आज भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है। उसमे देवाधिदेव के प्रति पूर्ण भक्ति, अटूट श्रद्धा और वन्दन नमस्कार ही का उल्लेख है। मन से पूर्ण भक्ति, उनके प्रति दृढ-श्रद्धा एव आदरभाव, वचन से उनकी स्तुति और शरीर से पांचो अंग झुका कर नमस्कार करना तथा आचरण से यथाशक्ति उनके उपदेश का पालन करना, बस यही विशुद्ध भक्ति दिखाई देती है। इसके सिवाय सब का,

सब व्यर्थ का झंझट है, विकार है, जिनधर्म से विरुद्ध है। हमारे उस समय के पूर्वज भी इस पाखण्ड मे उलझे हुए थे, किन्तु भला हो धर्मोद्धारक श्री लोकाशाह का, जिन्होने हमे उबारा। हम अन्धकार से निकल कर प्रकाश मे आए। वह लोकचन्द्र (लोकाशाह) हमारे लिए-"**लोगपइवाणं लोगपज्जोयगराणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं**.......बना। हम सद्भागी बने। उस उद्धारक महात्मा का ही उपकार है कि हम अब तक देवाराधन की विशुद्ध पद्धति को अपनाये हुए हैं। हमारे समाज मे भी देवाराधना मे विकार आया है। देव की जयंतियाँ आडम्बर युक्त मनाने, सप्ताह मनाने और प्रभात-फेरिया निकालने तथा देव को रागयुक्त बतलाने-प्रचारित करने की दुष्प्रवृत्ति हमारे समाज मे घुस गई है। देव के नाम पर असत्य एव खोटा प्रचार होने लगा है। हमे ऐसी बुराइयो से बच कर विशुद्ध आराधना को ही अपनाये रखना है। अध्यापक महानुभावो को अपने विद्यार्थियों को सही समझाना है, उन्हे विशुद्ध दृष्टि देना है। आप स्वयं सोचे कि हमारे अरिहंत देवाधिदेव की तुलना कोई भी देव कर सकता है ? जीवन विकास और पूर्णत्व की प्राप्ति एव प्रक्रिया, जैसी हमारे देवाधिदेव और उनकी आराधना मे है, वैसी अन्यत्र कही है ? बता सकता है कोई ?

हमारा गुरु-तत्त्व भी सर्वोत्तम है। जिनकी साधना एवं चर्या उत्तम है, जिनके जीवन मे हिंसादि पाप का लेश भी नहीं है, जो निर्दोष संयम का पालन करते हैं, अपनी आगमोक्त समाचारी के प्रति निष्ठावान हैं और जो जिनाज्ञा का आदर

करते हैं, वे ही हमारे उपास्य हैं। आरम्भी, परिग्रही एवं सावद्या-चारी हमारे गुरु नहीं हो सकते। हमारा गुरुपद संसारत्यागी श्रमण सुशोभित करते हैं। वे संसार से विरक्त, मोक्षाभिलाषी एवं देवाधिदेव के मुक्ति-मार्ग के प्रदर्शक हैं। हम ऐसे ही निर्ग्रंथ श्रमणों के उपासक हैं।

श्रमण निर्ग्रंथों की वेशभूषा संयम के अनुकूल है। किन्तु वेशमात्र से ही कोई साधु या गुरु नहीं हो सकता। वेश का दुरुपयोग बहुत हुआ है और इस दुरुपयोग का उत्तरदायित्व हम पर भी है। उपासक वर्ग की अज्ञानता, स्वार्थ, द्वेष, पक्षपात और विचार-मूढ़ता से ही ढोंगी और नकली साधुओं की असाधुता चलती है—पनपती है और धर्म में पाप घुसता है। इस युग ने तो वेशधारी मिथ्यादृष्टि भी उत्पन्न कर दिए, जिन्होंने अपने कुप्रचार से जैनियों में वैचारिक-भ्रष्टता उत्पन्न कर दी। वाह्याडंबर बहुत बढ़ गया है। संसार-त्यागी कहला कर भी संसार-रसिक बन गए हैं। धन-मोह उनमें भी बढ़ गया है। अपने मठ को आरामदेह बनाने, सुन्दर, सुसज्ज और मन्दिर जैसा आकर्षक बनाने के लिए वे पैसा प्राप्त करते हैं। वे मान-भूखे धर्म एवं सत्वहीन गृहस्थ की तरह उपासकों से मानपत्रों और अभिनन्दन ग्रंथों की भेंट लेते हैं। गुपचुप नगर प्रवेश करने वाले निर्ग्रंथों की नीति-रीति छोड़कर महान् आडम्बर से नगर प्रवेश करते हैं। कोई सम्पादक, प्रकाशक और कोई संस्था-संचालक है। वास्तव में वर्त्तमान में हमारे गुरुवर्ग की दशा बहुत चिन्तनीय हो गई है। यदि उपासक वर्ग सावधान हो जाय

और गुरुपद की विशुद्धि का संकल्प करे, तो सुधार हो सकता है। भ्रष्ट तत्त्व पृथक् किया जा सकता है और सुधरने योग्य की दशा सुधर सकती है।

वन्धुओ! साधुता का सत्य स्वरूप समझ कर आपको अपने विद्यार्थियो को भी समझाना है। आपके लिए तो संकेत ही पर्याप्त है। मै आपको उपदेश नही देता। हम सब आपस मे परामर्श करते हैं। आप-हम सभी जिनोपासक धर्म-बन्धु हैं और जिनधर्म की प्रभावना एव उन्नति चाहते हैं। इस विषय पर आप सभी सोचे। अव दिन के २ वजे से इस विषय पर चर्चा तथा शंका समाधान होगा।

अजीव द्रव्य

(दूसरा दिन १६-६-६७)

मुनि श्री रत्नचन्द्रजी म. का व्याख्यान

आज का विषय अजीव द्रव्य का है। छह द्रव्यो मे से जीव द्रव्य को छोड कर शेष पाँच द्रव्य अजीव ही हैं। यह समस्त लोक षट् द्रव्यमय है। इनमे से जीव द्रव्य का विषय आगे के लिए रख छोड़ा है। १ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय,

३ आकाशास्तिकाय, ४ पुद्गलास्तिकाय और ५ काल। ये पांचो द्रव्य अजीव–चैतन्य रहित हैं।

'अस्ति' का अर्थ–प्रदेश है और 'काय' का अर्थ–समूह होता है। अस्तिकाय का अर्थ हुआ–प्रदेशो का समूह।

द्रव्य का अर्थ है–गुणो का आधार–जिसमे अनत गुण रहे हो। वे गुण, परिवर्त्तनशील पर्यायो से युक्त होते है। द्रव्य शाश्वत हैं, किंतु पर्याये अशाश्वत है। पूर्व पर्याय नष्ट होती है, नई पर्याय उत्पन्न होती है। इस प्रकार द्रव्य शाश्वत होते हुए भी परिवर्त्तनशील पर्यायो वाला है।

धर्मास्तिकाय लोक व्यापी, एक द्रव्य है। इसके असंख्य प्रदेश हैं। यह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से सर्वथा रहित, अरूपी द्रव्य है। काल की अपेक्षा अनादि अनन्त एवं शाश्वत द्रव्य है। गति मे सहायक होना इसका गुण है। जो जीव और पुद्गल, गति करते है, वे धर्मास्तिकाय के सहारे गति करते हैं। संसार मे जितनी भी वस्तुएँ चलती, फिरती, उड़ती, उठती और रेंगती हैं, उन सब को धर्मास्तिकाय का सहारा प्राप्त होता है। यह उदासीन द्रव्य, अपने गुण मे ही स्थित रहता है, किन्तु इससे गतिशील जीव और पुद्गल को सहारा मिलता है। हम जो श्वासोच्छ्वास लेते हैं, हमारी नाडियो मे रक्त संचार होता है, वायु बहती है, घडी चलती है, इत्यादि चलन–स्पन्दन मे धर्मास्तिकाय निमित्तभूत बनती है। मनोयोग, वचनयोग एवं काय-प्रवृत्ति भी इसी के सहारे होती है। जिस प्रकार पानी के सहारे मच्छी गति करती है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल, धर्मास्तिकाय के

सहारे ही गति करते हैं।

धर्मास्तिकाय ऐसा द्रव्य है कि जिसे हम या कोई भी छद्मस्थ देख नही सकते। यह अनन्तज्ञानियो के वचनो पर विश्वास करके मानना चाहिये।

२ दूसरा अजीव द्रव्य है–'अधर्मास्तिकाय'। गुण के अतिरिक्त इसका विवेचन धर्मास्तिकाय के समान है। यह भी लोकव्यापी एक ही द्रव्य है। असख्यात प्रदेशी है। यह भी वर्ण गंधादि से रहित अरूपी है और कालापेक्षा अनादि अपर्यवसित है। इसका गुण 'स्थिरीकरण' है। बैठने, रुकने और स्थिर होने वाले जीवो और अजीवो को अधर्मास्तिकाय सहायक होता है। जिस प्रकार पंछी के लिए स्थल-भूमि स्थिरीकरण का कारण है, थके हुए पथिक के लिए ठंडी छाया वाला वृक्ष रुकने का कारण होता है, उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय भी स्थिरीकरण–गतिरोक का कारण बनता है।

३ आकाशास्तिकाय–यह भी एक द्रव्य है, किन्तु इसके प्रदेश अनन्त हैं। यह भी धर्मास्तिकाय के समान वर्णादि रहित अरूपी तथा अनादि अपर्यवसित है। आकाशास्तिकाय के दो भेद हैं–१ लोकाकाश और २ अलोकाकाश। लोकाकाश का क्षेत्र धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के समान असख्यात योजन प्रमाण है। जितने क्षेत्र में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्‌गलास्तिकाय है, उतना ही क्षेत्र लोकाकाश है। उसके सिवाय शेष अलोकाकाश है। अलोकाकाश, लोकाकाश से अनन्त गुणा है। अलोकाकाश महासागर के समान है, तो

लोकाकाश विन्दु के समान है, अथवा सागर के मध्य मे रहे हुए एक छोटे से गेंद के समान है। अलोकाकाश (अर्थात्–पोलार) में अन्य कोई द्रव्य नही है। उसमे जीव और पुद्गल की पहुँच भी नही हो सकती। किसी देव और इन्द्र की भी शक्ति नही कि अलोकाकाश मे–लोकाकाश के वाहर एक अगुली भी वढा दे। आकाशास्तिकाय का गुण अवकाश देने का है। इसमे जीव और अजीव निवास करते हैं। लोकाकाश सभी द्रव्यो को धारण करने वाला भाजन (पात्र) है। इस असंख्य प्रदेशात्मक लोक मे अनन्त जीव और अनन्त अजीव निवास करते हैं। लोकाकाश अपने मे, अपने प्रदेशो से अनन्त गुण वस्तुओ को आश्रय देता है। जिस प्रकार दूध मे शक्कर, लोहे के गोले मे अग्नि और भीत मे खूंटी का समावेश हो जाता है, उसी प्रकार आकाश (लोकाकाश) मे जीव अजीव–सभी द्रव्यो–अनन्तानन्त द्रव्यो का समावेश हो जाता है। आकाश का गुण अवकाश देने का है। कहा है कि–"**नहं ओगाहलक्खणं।**"

४ पुद्गलास्तिकाय–यह अजीव द्रव्य का चौथा भेद है। यह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त रूपी द्रव्य है और लोक व्यापी है। पूर्व प्रतिपादित धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय तो अरूपी–अमूर्त्त द्रव्य हैं, परन्तु पुद्गलास्तिकाय वर्णादि सहित रूपी–मूर्त्त है। पूर्वोक्त तीन द्रव्य तो एक–एक ही हैं, किन्तु पुदगल द्रव्य अनन्त हैं। परमाणु (एक सूक्ष्म अणु) से लगाकर अनत प्रदेशी स्कन्ध तक पुद्गल के भेद हैं। परमाणु सब मे सूक्ष्म है। इसका विभाग नही हो सकता। यह

न तो किसी के द्वारा पकड़ा जा सकता है और न चर्मचक्षु से देखा ही जा सकता है। दो परमाणु मिल कर द्विप्रदेशी स्कन्ध होता है। यो त्रिप्रदेशी आदि होते-होते संख्यात-प्रदेशी, असंख्यात-प्रदेशी और अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध होते है। इनमे पाच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्श होते हैं।

पाच वर्ण—काला, नीला, लाल, पीला और श्वेत। इन पाच वर्णों के मेल से अन्य वर्ण भी हो सकते हैं, किन्तु मूल भेद ये पाच ही हैं।

दो गन्ध—सुगन्ध और दुर्गन्ध।

पाच रस—तीखा, कटु, कषायला, खट्टा और मीठा।

आठ स्पर्श—कठोर, कोमल, हलका, भारी, स्निग्ध, रूक्ष, शीतल और उष्ण।

शब्द भी पुदगल है और वह जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द, यो तीन प्रकार का है।

समस्त द्रव्यो मे पुद्गल की विशेषता है कि यह रूपी द्रव्य है, जीवादि अन्य पाँचो द्रव्य अरूपी हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल द्रव्य निष्क्रिय हैं, किंतु पुद्गल द्रव्य सक्रिय गुण है। घटना, बढना, भीगना, सूख-जाना, मुरझाना, मिलना, पृथक् होना, सडन, गलन, विध्वशन इसका स्वभाव है। यह स्थिर भी रहता है और गति भी करता है। पुद्गल द्रव्य भी अनादि-अपर्यवसित—शाश्वत है। अवस्थान्तर होते हुए भी यह पुद्गल ही रहता है। कोई भी द्रव्य अपना स्वभाव नही छोडता। विविध प्रकार की अवस्थाओं में

परिवर्तित होते हुए भी उनका मूल-स्वभाव सदैव बना रहता है। इसमे ग्रहण गुण रहा हुआ है, इसीसे यह जीव द्वारा ग्रहण किया जाता है। मिलना तथा पृथक् होना ही ग्रहण और त्याग गुण है। यह गुण अन्य किसी भी द्रव्य मे नही है।

पुद्गल की मुख्यतया आठ वर्गणाएँ (वर्ग) हैं। जैसे—१ औदारिक वर्गणा, २ वैक्रिय वर्गणा, ३ आहारक वर्गणा, ४ तैजस् वर्गणा, ५ भाषा वर्गणा, ६ श्वासोच्छ्वास वर्गणा, ७ मनोवर्गणा और ८ कार्मण वर्गणा। ये स्थूल भेद हैं। ज्ञानियो ने स्वल्प-बुद्धि जीवो के समझने के लिए इनके वर्ग बनाये हैं। विस्तार से इनके और भी भेद किये गये है।

पुद्गल परिणाम १० प्रकार का बताया गया है। जैसे—

१ बन्धन परिणाम, २ गति परिणाम, ३ संस्थान परिणाम, ४ भेद परिणाम, ५ वर्ण परिणाम, ६ गंध परिणाम, ७ रस परिणाम, ८ स्पर्श परिणाम, ९ अगुरुलघु और १० शब्द परिणाम।

१ बन्ध के—प्रयोग-बन्ध और विस्रसा-बन्ध भेद हैं। इनके उपभेद भी भगवती सूत्र मे विस्तार से बतलाये हैं। २ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना गति है। पुद्गल गति करता है। यह उसका गति-परिणाम है। ३ पुद्गल परिमण्डलादि आकृति धारण करे, वह संस्थान-परिणाम है। ४ खण्ड प्रत्तरादि भेद-परिणाम, ५ काला आदि वर्ण, ६ सुगन्धादि गन्ध, ७ मधुरादि रस, ८ उष्णादि स्पर्श, ९ अगुरुलघु परिणाम—द्विस्पर्शी से लेकर चतुस्पर्शी पुद्गल अगुरुलघु परिणाम वाले होते हैं और

बादर परिणाम परिणत ऐसे चतुस्पर्शी से (चार, पांच, छह, सात और आठ) अष्टस्पर्शी पुद्गल गुरुलघु परिणाम वाले होते हैं। अर्थात् चतुस्पर्शी जाति के पुद्गल अगुरुलघु परिणाम वाले हैं, फिर भले ही वे दो तीन या चार स्पर्श वाले हो और अष्ट-स्पर्शी जाति वाले पुद्गल गुरुलघु परिणाम वाले हैं, भले ही वे चार, पांच आदि स्पर्श वाले हो। १० शब्द परिणाम–शुभ और अशुभ शब्द भी पुद्गल का परिणाम है।

५ काल द्रव्य–अजीव द्रव्यो मे पांचवां काल द्रव्य है। निश्चय काल तो एक सूक्ष्म समय है। वह सूक्ष्म समय कि जिसका कोई भेद ही नही हो सके। व्यवहार काल इस प्रकार है।

१ समय–काल का परम सूक्ष्म अश जिसका कोई विभाग नही हो सकता।

२ आवलिका–असंख्य समयो की एक आवलिका होती है।

३ उच्छ्वास–संख्यात आवलिकाओ का एक उच्छ्वास।

४ नि श्वास– " " नि.श्वास।

५ प्राण–एक उच्छ्वास और नि श्वास का एक प्राण।

६ स्तोक–सात प्राण का एक स्ताक।

७ लव–सात स्तोक का एक लव।

८ मुहूर्त–७७ लव का एक मूहूर्त।

९ अहोरात्रि–तीस मूहूर्त की एक अहोरात्रि।

१० पक्ष–पन्द्रह अहोरात्रि का पक्ष।

११ मास–दो पक्ष का मास।

१२ ऋतु–दो मास की एक ऋतु।

१३ अयन—तीन ऋतु का एक अयन।

१४ संवत्सर—दो अयन का एक सवत्सर (वर्ष)

१५ युग—पाँच वर्ष का एक युग।

१६ शतवर्ष—बीस युग का शतवर्ष।

१७ सहस्त्रवर्ष—दस शतवर्ष का।

१८ शतसहस्त्रवष—सौ सहस्त्र वर्ष का (लाख वर्ष)

१९ पूर्वांग—८४००००० वर्षों का एक पूर्वांग।

२० पूर्व—८४००००० पूर्वांग का एक पूर्व—(७०५६०००००००००० अर्थात् सात सौ पाच खरब और साठ अरब। यह चौदह अंक की संख्या है)

२१ त्रुटितांग—८४००००० पूर्व का।

२२ त्रुटित—८४००००० त्रुटितांग का। इस प्रकार पहली राशि को ८४००००० गुणा करने से—२३ अटटाग २४ अटट २५ अववाग २६ अवव २७ हुहुकाग २८ हुहुक २९ उत्पलाग ३० उत्पल ३१ पद्माग ३२ पद्म ३३ नलिनाग ३४ नलिन ३५ अर्थनिपूराग ३६ अर्थनिपूर ३७ अयुतांग ३८ अयुत ३९ प्रयुतांग ४० प्रयुत ४१ नयुताग ४२ नयुत ४३ चूलिकाग ४४ चूलिका ४५ शीर्षप्रहेलिकाग और ४६ शीर्षप्रहेलिका।

यहा तक गिनती का काल है। शीर्षप्रहेलिका लिखी जाने से १९४ अंक की सख्या है। इसके शीर्षप्रहेलिका के आगे भी संख्यातो की बहुत संख्या है, किन्तु गणनीय सख्यां यही तक है। इससे आगे के काल को 'उपमेयकाल' कहा है। इसके पल्योपम

और सागरोपम ऐसे दो भेद हैं–

जो सुतीक्ष्ण शस्त्रो द्वारा भी छेदा-भेदा न जा सके, ऐसे परम-अणु (परमाणु) को केवली भगवान् सब प्रमाणो का आदिभूत प्रमाण कहते हैं। ऐसे अनन्त परमाणुओ के समुदाय की समिति के समागम से एक उच्छलक्ष्णश्लक्ष्णिका, श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका, उर्ध्वरेणु, त्रसरेणु, रथरेणु, वालाग्र, लिक्षा, यूका, यवमध्य और अंगुल होता है। आठ उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका के मिलने से एक श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका होती है। आठ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका से एक उर्ध्वरेणु, आठ उर्ध्वरेणु से एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु से एक रथरेणु और आठ रथरेणु से देवकुरु उत्तरकुरु के मनुष्यो का एक बालाग्र होता है। देवकुरु उत्तरकुरु के मनुष्यो के आठ बालाग्रो से हरिवर्ष रम्यकवर्ष के मनुष्यो का एक बालाग्र होता है। हरिवर्ष रम्यकवर्ष के मनुष्यो के आठ बालाग्रों से हैमवत ऐरावत के मनुष्यो का एक वालाग्र होता है। हैमवत ऐरावत के मनुष्यो के आठ बालाग्रो से पूर्वविदेह के मनुष्यो का एक बालाग्र होता है। पूर्व विदेह के मनुष्यो के आठ वालाग्रो से एक लिक्षा (लीख), आठ लिक्षा से एक यूका (जू), आठ यूका से एक यवमध्य और आठ यवमध्य से एक अंगुल होता है। इस प्रकार के छह अगुल का एक पाद (पैर), वारह अगुल की एक वितस्ति (वेंत) चोवीस-अगुल का एक हाथ, अडतालीस अगुल की एक कुक्षी, छियानवें अगुल का एक दण्ड, धनुष, युग नालिका, अक्ष अथवा मूसल होता है। दो हजार धनुष का एक गाऊ होता है। चार गाऊ का एक योजन होता है। इस योजन

के परिमाण से एक योजन लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा, तिगुणी से अधिक परिधिवाला एक पल्य। उस पल्य मे देवकुरु, उत्तरकुरु के मनुष्यो के एक दिन के उगे हुए, दो दिन के उगे हुए, तीन दिन के उगे हुए और अधिक से अधिक सात दिन के उगे हुए करोडो बालाग्र ठूस-ठूस कर इस प्रकार भरे जाय कि उन बालाग्र के असख्य खड का न अग्नि जला सके और न हवा उडा सके एव वे बालाग्र न दुर्गन्धित हो, न नष्ट हो और न सड सके, इस प्रकार भर दिया जाय। इसके बाद इस प्रकार बालाग्रो से ठसाठस भरे हुए उस पल्य में से सो-सो वर्ष मे एक-एक बालाग्र को निकाला जाय। इस क्रम से जितने काल मे वह पल्य क्षीण हो, नीरज हो, निर्मल हो, निष्ठित हो, निर्लेप हो, अपहरित हो और विशुद्ध हो उतने काल को एक 'पल्योपम काल' कहते हैं। वैसे दस कोटाकोटि पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

चार कोटाकोटि सागरोपम का एक 'सुषमसुषमा' आरा होता है। तीन कोडाकोडि सागरोपम का एक 'सुषमा' आरा होता है। दो कोटाकोटि सागरोपम का एक 'सुषमदु षमा' आरा होता है। बयालीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम का एक 'दु षम-सुषमा' आरा होता है। इक्कीस हजार वर्ष का एक 'दु षम' आरा होता है और इक्कीस हजार वर्ष का एक 'दु षम दुषमा' आरा होता है। इसी प्रकार उत्सर्पिणी काल में इक्कीस हजार वर्ष का पहला दु.षम-दुषमा आरा होता है और इक्कीस हजार वर्ष का दूसरा दु षम आरा होता है। बयालीस

हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम का तीसरा दु.षम-सुषमा आरा होता है। दो कोटाकोटि सागरोपम का चौथा सुषम दु षमा आरा होता है। तीन कोटाकोटि सागरोपम का पाँचवा सुषमा आरा होता है। चार कोटाकोटि सागरोपम का छठा सुषम-सुषमा आरा होता है। इस प्रकार दस कोटाकोटि सागरोपम का एक 'अवसर्पिणी काल' होता है और दस कोटाकोटि सागरोपम का एक 'उत्सर्पिणी काल' होता है। बीस कोटाकोटि सागरोपम का एक 'अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल चक्र' होता है।

इस प्रकार पाँचो अजीव द्रव्यो का संक्षेप मे स्वरूप है। शास्त्रो मे इनका विस्तार से वर्णन है। अव गुरुदेव आपको इन द्रव्यो का विवेचन सुनावेगे।



बहुश्रुत श्रमण-श्रेष्ठ पंडितरत्न पूज्य श्री समर्थमलजी म. सा. का व्याख्यान

अभी मुनिजी ने अजीव द्रव्य का स्वरूप वतलाया। द्रव्य छह है और अस्तिकाय पाँच हैं। इनमे जीवद्रव्य और जीवास्तिकाय तो एक ही है, शेष सभी अजीव हैं। मुख्यतः द्रव्य दो ही हैं—जीव और अजीव। इन दो द्रव्यों मे सारा संसार—लोक और अलोक आजाता है। अलोक तो केवल अजीव—आकाशमय है, लोक मे जीव और अजीव दोनो है। अजीवद्रव्य मे धर्मास्तिकाय आदि पाँच हैं, यह आपने अभी सुना ही है।

आगमो मे द्रव्य एव अस्तिकाय का स्वरूप बतलाया, वह अपन छद्मस्थ जीवो के समझने के लिए है। सर्वज्ञो के तो सभी तत्व आत्मागम है। वे हमारे लिए अर्थागम की प्ररूपणा करते हैं। तीर्थंकर नामकर्म के उदय से जिनेश्वर देवो द्वारा प्रवचन होता है, जिसे सुन-समझ कर छद्मस्थ जीव सम्यग्ज्ञान प्राप्त करते हैं और हेय का त्याग करके आत्महित मे प्रवृत्त होते है।

अजीव द्रव्य मे चार तो अस्तिकाय है-१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय और ४ पुद्गलास्तिकाय। इन चार के सिवाय एक काल द्रव्य भी है, वह अस्तिकाय रूप नही है। 'अस्ति' का अर्थ है-'प्रदेश' और 'काय' का अर्थ-'राशि'-समूह। अस्तिकाय का अर्थ हुआ-प्रदेशो का समूह। जो प्रदेशो से युक्त हो, उसे 'अस्तिकाय' कहते हैं। धर्मास्तिकाय आदि चारो द्रव्य, प्रदेशो वाले हैं, किंतु काल अप्रदेशी है। वह वर्त्तमान एक समय रूप है। भूतकाल व्यतीत-नष्ट हो चुका, भविष्यकाल अनागत है और वर्त्तमानकाल एक समय मात्र का है। दूसरे समय मे वह भी नष्ट होकर भूतकाल बन जाता है।

पाँचो अजीव द्रव्यो मे से पुद्गलास्तिकाय को छोड कर शेष चारो अरूपी हैं। इन में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नही होते। किन्तु पुद्गलास्तिकाय रूपी है। इसमे वर्णगन्धादि होते हैं। पुद्गल बिना वर्णगन्धादि के नही होता। कुछ अनसमझ लोग, पुद्गल के दो भेद करके रूपी और अरूपी-दोनो प्रकार का बतलाते है, किन्तु यह असत्य है। पुद्गल वर्णगन्धादि से युक्त है-रूपी है, अरूपी नही। 'दृष्टिगत हो, वह रूपी और

दिखाई नही दे, वह अरूपी'–यह मान्यता सत्य नही है। ऐसी कई बारिक वस्तुएँ है, जो हमे दिखाई नही देती, किन्तु दूरवीक्षण यन्त्र से दिखाई देती है। हमे दिखाई नही देने के कारण वह वस्तु अरूपी नही हो जाती। परमाणु-पुद्गल को परम अवधि-ज्ञानी जान देख सकते हैं, सामान्य अवधिज्ञानी नही देख सकते, इससे वह अरूपी नही हो जाता। जिसकी दृष्टि कमजोर होती है, वह सूई मे धागा भी नही डाल सकता, गेहूँ, दाल, चावल में से कंकर नही बिन सकता और अत्यंत मन्द दृष्टि हो जाने पर मनुष्य भी दिखाई नही देता, तो क्या दिखाई नही देने से ही कोई अरूपी हो जाता है? नही। परमाणु को अरूपी मानने-वाले, स्कन्ध को रूपी कैसे कह सकेंगे? स्कन्ध भी तो परमा-णूओ का पिण्ड ही है। यदि परमाणु अपने-आप मे अरूपी होता, तो उससे बना हुआ स्कन्ध भी अरूपी ही होता। लाखो करोडों और अनन्त अरूपी मिलकर भी रूपी नही हो सकते। अरूपी अपनेआप मे अरूपी ही रहता है।

जिनमे अवधिज्ञान है, उन्हे भी परमाणु से लेकर असंख्य प्रदेशी स्कन्ध कान, नाक, आँख, जिव्हा और स्पर्श द्वारा दृश्य-मान नही होते। परमाणु से लगाकर असख्य प्रदेशी स्कन्ध तक के पुद्गल-स्कन्ध हमारी किसी भी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नही हो सकते, न गन्धरूप मे, न रस-स्पर्शादि रूप मे। फिर भी इन्हे रूपी मानना ही पडेगा, क्योकि इनमे रूप है। इस लोक मे असंख्य-प्रदेशी पुद्गल सर्वाधिक हैं–जो इन्द्रिय ग्राह्य नही। हमारे नही जानने, नही देखने मात्र से न तो वस्तु रूपी से अरूपी हो जाती है और

न हम उसकी नास्ति ही कह सकते है। हमारे लिए अदृश्य है, वह दूसरे–विशिष्ट ज्ञानी के लिए दृश्यमान हो सकता है। बकरी के मुँह मे तुम्बे का समावेश नही हो सकता, तो वह अखाद्य नही हो जाता। हाथी के लिए वह खाद्य होता है। अतएव पुद्गल अरूपी भी है–ऐसा कहना असत्य है।

धर्मास्तिकाय आदि चार अरूपी अजीव द्रव्य को हम नही देख सकते। ये चारो अरूपी है। धर्मास्ति और अधर्मास्ति असख्यात प्रदेशी है और आकाशास्तिकाय अनन्त प्रदेशात्मक है, तथा काल अप्रदेशी है। ये सब अरूपी हैं। हमारे लिए परोक्ष हैं। हम इन द्रव्यो को अनन्त-ज्ञानियो के वचनो से ही जान सकते है और उन पर विश्वास कर सकते हैं। हमारी आत्मा पर ज्ञानावरणादि छाये हुए है, इसलिए हम इन द्रव्यो को प्रत्यक्षरूप मे नही जान सकते। किन्तु हमारे नही जानने से उनका अस्तित्व नही मिट जाता। यह बात इस उदाहरण से समझनी चाहिए।

एक महिला ऋतुमति है। वह एक ओर बैठी है। उसका छोटा ४, ५ वर्ष का बच्चा उसके पास आना चाहता है। वह उसे दूर ही रहने का कहती है। बच्चा पूछता है–'तू मुझे अपने पास क्यो नही आने देती ?" माता कहती है–"मैं रजस्वला हूँ।" पुत्र पूछता है–"रजस्वला–ऋतुमति क्या होता है ?" अब वह माता उस बच्चे को कैसे समझावे ? कोई कहती है–"मुझे मेहतर ने छू लिया", कोई कहती–'मरे हुए चूहे का स्पर्श हो गया,' आदि। वह स्वयं समझती हुई भी अपने

वच्चे को नही समझा सकती। इसका मूल कारण यह कि बच्चे मे इस बात को समझने की शक्ति नही होती। जब उसमे समझ आयगी, तब वह समझेगा। इसी प्रकार अरूपी पदार्थ को देखने की शक्ति छद्‌मस्थो मे नही होती। सर्वज्ञ ही उन्हे आत्म-प्रत्यक्ष करते हैं। केवलज्ञानी भगवान् ऐसे अरूपी एवं सूक्ष्मतम पदार्थों को, हम छद्‌मस्थो को प्रत्यक्ष कैसे दिखा सके? उनके वचनो पर विश्वास करके हमे मानना चाहिए।

एक जन्मान्ध व्यक्ति पूछे कि–पेंसिल कैसी होती है, घडी कितनी वड़ी होती है, रुपया-पैसा क्या है, तो आप पेंसिल, घडी और रुपया-पैसा उसके हाथ मे देकर उसे स्पर्श एवं आकार की जानकारी करा सकते हो, (रूप की जानकारी आँखो के अभाव मे नही होती) किन्तु वह जन्मान्ध पूछे कि 'चन्द्रमा कैसा होता है?' तो कैसे बतावेंगे? क्या पेंसिल, घडी और रुपये की तरह चन्द्रमा भी हाथ मे देकर समझा सकेगे? दूर रहा हुआ स्पर्शादि सहित चन्द्रमा–जिसे आप स्वयं देख रहे हैं–उस जन्मान्ध को नही बता सकते। जब दृश्यमान वस्तु को आप स्वयं उसे नही बता सकते, तो अदृश्य वस्तु को केवलज्ञानी आपके इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कैसे करा सके? अन्धा नही देख सके, इस कारण चन्द्रमा का अस्तित्व नही मिट जाता। इसी प्रकार छद्‌मस्थ नही देख सके, इस कारण अरूपी एव सूक्ष्म पदार्थ का अस्तित्व नही मिट जाता। अपनी अयोग्यता के कारण अदृश्य पदार्थों का अस्तित्व ही नही मानकर, उसे असत्य या गप्प कहना भूल है।

धर्मास्तिकाय-द्रव्य अरूपी है, वर्णगन्धादि से रहित है, अजीव है, शाश्वत है, लोक-द्रव्य है। इसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा पाँच भेद हैं। यह एक ही द्रव्य है। समस्त लोक मे व्याप्त होते हुए भी द्रव्य तो एक ही है। आपके एक मस्तक, दो नाक, दो हाथ तथा दो आँखे आदि अवयव भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक ही शरीर मे है, शरीर से भिन्न नही। इसी प्रकार असख्यात प्रदेश युक्त होते हुए भी धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है। वह ऊँचा, नीचा, पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण—सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त है। कुछ यहाँ, कुछ वहाँ,—इस प्रकार पृथक् खण्डरूप नही, किन्तु सर्वत्र व्यापक—एकरूप है। यह समस्त लोक इस द्रव्य का क्षेत्र है। काल से यह शाश्वत, नित्य अनादि अपर्यवसित है। बीते हुए अनन्तकाल मे ऐसा कोई समय नही रहा—एक सूक्ष्म समय भी नही रहा कि जब धर्मास्तिकाय नही रहा हो, वर्त्तमान काल मे यह है ही। जितना भूतकाल बना, वह सब वर्त्तमान होकर ही बना, उस सभी वर्त्तमान काल मे धर्मास्तिकाय की उपस्थिति रही। ऐसा कोई वर्त्तमान समय नही आया कि जिसमे यह द्रव्य नही रहा हो। भविष्य काल मे भी यह विद्यमान रहेगा। ऐसा कोई भी समय नही आएगा कि जिसमे धर्मास्तिकाय नही रहे। तात्पर्य यह कि यह अनादि-अपर्यवसित है। कहा है कि—"**अनादि अनिधने द्रव्ये, स्वपर्याय प्रतिक्षणं, उमज्जति निमज्जंति जलकल्लोलवज्जलं**" जितने भी द्रव्य हैं—सभी अनादि-अपर्यवसित हैं। वे अपनी पर्याय से प्रतिक्षण—'उमज्जतिनिमज्जति"—जल मे उत्पन्न एवं लय

होने वाली लहरो के समान है। प्रत्येक द्रव्य मे पर्याय की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, किन्तु द्रव्य तो त्रिकाल अवाधित-ध्रुव रहता है। उसका द्रव्यत्व सदाकाल शाश्वत रहता है। द्रव्य भी वही है जो सदाकाल ध्रुव-शाश्वत रहे।

भाव से धर्मास्तिकाय वर्णादि रहित है, अरूपी है। अरूपी का अर्थ-अवस्तु नही। यह वस्तु तो है, किंतु रूपवाली नही है। अभी बादल नही है, धूप फैली हुई है। आप सभी धूप को अपनी आँखो से देख रहे हैं, किन्तु आप से कहा जाय कि-'जरा दो मुट्ठी भर कर धूप लाओ,' तो क्या ला सकोगे? नही। वस्तु दिखाई देते हुए भी पकड़ी नही जा सकती, फिर भी द्रव्यरूप स्वीकार की जाती है। इसी प्रकार गंध को भी पकड़ कर दिखाया नही जा सकता। आत्मा मे सुख-दुःख, हर्ष शोष, विषाद आदि होते हैं, किन्तु सुख-दुःखादि को हाथ मे रख कर दिखाया नही जा सकता। इस प्रकार वस्तु का अस्तित्व होते हुए भी दिखाई नही देने के कारण अवस्तु नही कहना चाहिए। उसका निषेध नही करना चाहिए।

धर्मास्तिकाय का गुण चलन है। यह जाने आने, उठने, चलने आदि रूप गमन मे सहायक होती है। पानी, मच्छी को चलाता नही, किन्तु मच्छी के चलने मे पानी सहायक होता है। कहा है-"**उलटे जल मच्छी चले, बहा जाय गजराज**"- मच्छी तो उलटी गति से, पानी के बहाव के सामने भी चल

सकती है। अनुश्रोतचारी, प्रतिश्रोतचारी आदि मच्छियो के भेद ठाणाग सूत्र मे कहे है। भगवान् ने कहा है कि यदि गति करने की प्रवृति जीव की हुई हो, या पुद्गल गति करे, तो धर्मास्तिकाय सहायक बनती है। रेल अपनी पटरी पर चलती है। पटरी नही हो, तो चल नही सकती। चलती तो रेल है, परतु पटरी चलने मे सहायक होती है। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय भी गमन करने मे सहायक बनती है।

कई वस्तुएँ ऐसी होती है कि जो तर्क से भी नही जानी जा सकती–"तर्क अगोचर सरधवो, द्रव्य धर्म अधर्म। कोई प्रतीते युक्ति सु, पुण्य पाप सकर्म।" पुण्य और पाप तो समझ मे आ सकते है। अमुक सुखी है अमुक दुखी है, यह प्रसन्न है, यह खेदित है, किन्तु धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय को कैसे जाने ?

पागी लोग (भूमि पर अंकित चरण चिन्हो से पहिचाननेवाले) धूल मे मँडे हुए एक पाँव के आकार को देखकर उस व्यक्ति को खोज निकालते हैं, भले ही वह कितनी ही दूर चला गया हो। फलोदी का एक मनुष्य चोरी करके भाग गया था। वह दूसरे गाँव जाकर आटा माँगने लगा। पागी वहाँ पहुँचा। उसने आटे मे मँडे हुए हाथ के चिन्ह से उसी को चोर बता कर पकडवा दिया। यह अनुभव ज्ञान है। बहुतसी बाते अनुभव ज्ञान से जानी जा सकती है। यदि कोई मनुष्य उस पागी से पूछे कि "तुमने आटे मे अकित हाथ से उसे कैसे चोर ठहराया ?" तो वह क्या समझावे ? उसके दीर्घ अनुभव को

वह दूसरे के इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कैसे करे ?

बहुत-सी भेडो के झुण्ड मे से, रात के अन्धकार मे भी, सदा उनके साथ रहने वाला ग्वाला वता सकता है कि इस भेड़ का बच्चा यह है। हम आठ, दस साधु हो और हमारे रजोहरण रात को पास-पास ही रखे हो, तो हम अन्धकार मे भी अपने-अपने रजोहरण हाथ मे लेते ही पहिचान लेते है, + हस्तलिपि देख कर लेखक पहिचाना जा सकता है। यह सब अनुभव-ज्ञान है। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवतो को तो वस्तु मात्र का अनुभव ज्ञान—आत्म-प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वे समस्त वस्तुओ की त्रिकाल सम्बन्धी सभी अवस्थाओ को जानते-देखते हैं। किंतु सभी जानते-देखते हुए भी हम अल्पज्ञो की अल्प बुद्धि वैसी नही कि वे हमे अपनी कही वात को प्रत्यक्ष करा सके।

धर्मास्तिकाय के समान अधर्मास्तिकाय है, केवल गुण में अन्तर है। यह स्थिरता मे सहायक होने वाला द्रव्य है। आकाशास्तिकाय अवकाश देने वाला है और लोकालोक व्यापी अनन्त प्रदेशात्मक है। धर्मास्तिकायादि द्रव्य, लोकाकाश मे ही है, अलोक मे आकाश के सिवाय कुछ भी नही। वस आकाश मात्र है। अलोक मे न तो जीव जा सकता है न पुद्गल।

काल-द्रव्य के विषय मे समझना चाहिए कि—जैसे आज का एक दिन है। किन्तु यह दिन सभी के लिए भिन्नत्व लिये हुए भी है। एक के लिए सुखरूप, तो दूसरे के लिए दु खरूप। इस एक दिन मे जन्मोत्सव, लग्नोत्सव, वर्षगाठ का उत्सव

+ इसी प्रकार हम गृहस्थ लोग पांव के जूते पहिचान लेते हैं—सं.।

आदि भी होते है और प्रियमरणादि वियोग भी होते है। इसी दिन को लाभ रूप मे मानने वाले भी है और हानि रूप मे भी। यह घडी एक है, परन्तु इस घडी मे यहा कितनी सामायिक हुई—सब की भिन्न भिन्न। एक मुहूर्त, घडी और क्षण मे अहिसा-हिसा, सत्य-झूठ, ईमानदारी-चोरी आदि व्यक्ति भिन्नता से सभी कुछ होता है। एक क्षण अनन्त द्रव्यो पर बरतता है, वह सब के लिए भिन्न रूप होता है। एक समय मे अनन्त समय बरतते हैं। अनन्तजीव और अनन्त पुद्गल—इन सब की पर्यायो पर वह समय पृथक् वर्तता है। एक रात-दिन मे इसी प्रकार अनन्त रात-दिन बीतते हैं। एक-एक समय मे अनन्त जीवो के पृथक्-पृथक् बन्ध भी होते है और निर्जरा भी। भगवती सूत्र श ५ उ ९ मे पार्श्वापत्यो के उत्तर मे भगवान् ने इस भाव को स्पष्ट किया है। काल अनन्त होते हुए भी अप्रदेशी है। क्योकि भूत और भविष्य के द्रव्य, सम्बन्धित नही रहते। भूत, नष्ट हो जाता है और भविष्य अनुत्पन्न रहता है। भूत भविष्य को जोड़ने वाली काय उसके नहीं है। काल का गुण ही—**"वत्तणा लक्खणो कालो"**—वर्त्तना लक्षण है।

पुद्गल द्रव्य अनन्त हैं और इस लोक के भीतर ही है। लोक के बाहर कोई पुद्गल नही है। दो परमाणु मिलने पर द्व्यणुक—दो प्रदेशी, यावत् अनन्त प्रदेशी हो सकते हैं और पृथक् भी हो सकते हैं, किन्तु अपने पुद्गलपन का त्याग नही कर सकते। पुद्गल सदैव—अनन्तकाल पर्यन्त भी पुद्गल ही रहता है—शाश्वत द्रव्य है। जीव, पुद्गल को ग्रहण करता है। जीव के

परिणाम के अनुसार वर्गणाएँ आकर्षित होकर बद्ध हो जाती है— औदारिक वर्गणा, वैक्रेय वर्गणा, आहारक, तेजस्-कार्मण वर्गणा आदि। वर्गणाएँ ग्राह्य भी होती है और अग्राह्य भी। ग्राह्य वर्गणाएँ ही जीव के काम मे आती है, अग्राह्य नही। परमाणु से लगाकर असख्य प्रदेशी स्कन्धक तक को जीव ग्रहण ही नहीं कर सकता। अनन्त प्रदेशी मे से ग्राह्य वर्गणा ग्रहण होती है। जिस प्रकार गलाया हुआ सोना आभूषण के रूप मे पहिना नही जा सकता, आभूषण बनने पर ही पहना जा सकता है। पुद्गल द्रव्य, जीव द्रव्य के उपयोग मे आता है। अजीव के नही। जैसे—'आज मुझे मुँहपत्ती धोनी है'—इस प्रकार विचार करके प्रवृत्ति होती है, ऐसे भाव अजीव के नही होते। खाद्य पदार्थ—'मीठा अच्छा, मसाला अच्छा हो,' आदि जीव ही मे ही भाव उत्पन्न होकर पुद्गल को काम मे लिया जाता है। अजीव मे ऐसे भाव उत्पन्न नही होते। जीव ही लडाई-झगडा करते हैं, अजीव नही करते। चन्दन यह नही सोचता कि मुझे घिस कर शरीर पर लेप करे तो ठीक, या टुकड़े करे तो ठीक अथवा मुर्दे के साथ जलावे तो ठीक। अजीव मे रागद्वेष नही होते।

इन सबका ज्ञान जीव को होता है और ज्ञान करना चाहिए। लोग कहते हैं कि—"हमे दुनिया के कीड़े और नरक के नेरिये गिन कर क्या करना है? इनकी गिनती से हमारा क्या हित होता है?" जीव स्वयं एकेन्द्रियादि पर्याय धारण कर चुका है, जन्म-मरण से सारे लोक को भर चुका है। लोक मे—'विश्वंभरनाथ की जय' कहते हैं, भगवान् भी कहते हैं—'पुढो

विसंभया पया'—जीव ने विश्व को भर दिया। विश्व को भर देने वाला विश्वभरनाथ यह आत्मा ही है। पुद्गलो के साथ भले-बुरे सम्बन्ध जोड चुका है। इन सब को जानकर इनसे विरत होने के लिए ही धर्म का आश्रय है। पुद्गल स्वय, भूत की तरह जीव के नही लगता। जीव ही शुभाशुभ परिणति से पुद्गल को ग्रहण कर बद्ध होता है और सुख-दु ख, जन्म-मरणादि करता है। इन सब से मुक्त होकर परमात्म पद प्राप्त करने के लिए ही द्रव्यादि को समझने की आवश्यकता है। परमात्म-पद प्राप्त करने के लिए पुद्गल रुचि—पुद्गलानन्दीपन एवं राग-द्वेष की परिणति छोड़ना आवश्यक है। इसी से आत्मा की विशुद्ध पर्याय प्रकट होकर सिद्ध पद की प्राप्ति होगी।



मेरा वक्तव्य

शिविरार्थी बन्धुओ! अजीव द्रव्य का स्वरूप आपने अभी मुनि श्री रत्नचन्द्रजी म. से और गुरुदेव से सुना है। वैसे अब मेरे बोलने की कोई आवश्यकता नही रही, फिर भी कार्यक्रम के अनुसार मुझे भी बोलना है। अतएव मैं भी आपका समय ले रहा हूँ।

प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप जैसा जैन-दर्शन मे बताया गया है, वैसा अन्य किसी भी दर्शन मे नही है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्य तो किसी ने जाना ही नही, सिवाय जैन-

साहित्य के इनका विधान अन्य किसी भी साहित्य मे नही है। सुना है कि वैज्ञानिक किसी ऐसे तत्त्व का अस्तित्व बतलाते हैं—जिससे धर्मास्तिकाय के विधान का प्रकारान्तर से समर्थन होता हो। जैन-दर्शन ने इन्हे लोक द्रव्य बता कर सर्वप्रथम स्थान दिया है। क्योकि लोक-व्यवस्था से इनका मुख्य सम्बन्ध है। इन्ही के सहारे से जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय, गति एवं स्थितिशाल होते हैं। यदि यह द्रव्य नही होता, तो लोक-व्यवस्था तथा जीव और पुद्गल का दिखाई देने वाला व्यापार भी कैसे होता ? यदि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नही होती, तो कुछ भी नही होता। न जीव, न जीव का पतन, उत्थान और सिद्ध स्वरूप। सासारिक प्रवृत्ति हो, या सयम-साधना, समिति हो या गुप्ति,—सभी मे धर्मास्ति, अधर्मास्ति का अप्रत्यक्ष अवलम्बन रहता ही है। तीर्थंकर भगवतो के उपदेशदान, प्रव्रज्यादान, विहार, केवलीसमुदघात, सिद्धिगमन और लोकाग्र स्थिति, इन सभी व्यापारो मे आदि के दोनो द्रव्यो का उदासीनरूप से अवलम्बन रहता ही है। लोक-व्यवस्था मे ये दोनो द्रव्य सर्वप्रथम आवश्यक है। ये ही लोक अलोक की सीमा करनेवाले हैं। यद्यपि ये और अन्य द्रव्य, आकाश मे ही रहते हैं आकाश सभी का आश्रय है, किन्तु आकाश तो अलोक मे भी है। मात्र आकाश ही से अलोक है। अलोक मे धर्मास्तिकायादि नही होने के कारण ही वह 'अलोक' कहलाया। इसलिए लोक व्यवस्था मे मुख्य कारण होने से ही उन्हें षड्द्रव्य मे प्रथम-द्वितीय स्थान प्राप्त हुआ है।

आकाशास्तिकाय को अन्यदर्शन भी मानते है, किन्तु स्वरूप प्रतिपादन मे तो सभी तात्विक विषयो मे जैन-दर्शन ही सर्वोच्च रहा है।

पुद्गलास्तिकाय के तीन भेद है—१ प्रयोग परिणत २ मिश्र परिणत और ३ विस्रसा परिणत। इन तीनो का विविध रूपो मे परिणमन ही इस दृश्यमान् ससार मे दिखाई देता है।

प्रयोग परिणत पुद्गल—जिन पुद्गलो का जीव प्रयोग करता है, वे 'प्रयोग-परिणत' कहलाते हैं। भगवती सूत्र श. ८ उ १ और ९ मे इसका विस्तार से वर्णन है। एकेन्द्रिय से लगाकर पञ्चेन्द्रिय जीवो के, औदारिक से लगाकर कार्मण तक पाँचो शरीर, इन्द्रियाँ, चारो गति मे अपर्याप्ति, पर्याप्ति, वचन और मन तथा इनकी प्रवृत्ति, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श परिणमन, संस्थान (आकार रूप) परिणमन। इस प्रकार जीव के मन, वचन और काया की प्रवृत्ति तथा कापायिक भाव से आकर्षित होकर जीव से सम्बन्धित होने वाली पुद्गल-वर्गणा (समूह) को 'प्रयोग-परिणत पुद्गल' कहते है। हमारा यह शरीर और इसमे रहे हुए पुद्गल द्रव्य को हमने ही ग्रहण किया है। अपने शुभाशुभ अध्यवसायो और क्रियाओ से हमने कर्म-वर्गणाओ का बन्ध किया है और उस बन्ध के उदय मे आने पर हमने तदनुसार गति, शरीर, इन्द्रियाँ एवं वर्णादि प्राप्त किये है और करते जा रहे है। फल-भोग भी हम अपने किये हुए प्रयोग-परिणत पुद्गलो का कर रहे है। हम वर्त्तमान मे खान-पानादि कर रहे है, वह भी तो हमारी अपनी क्रिया से होता है, तात्पर्य यह कि

हमे जो गति, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वर्णादि एवं सुख-दुःख प्राप्त हुए हैं, वे सब पौद्गलिक है और हमारे किये हुए हैं।

प्रयोग-परिणति के भगवती सूत्र श ८ उ. ९ मे तीन भेद बताये हैं,–१ अनादि अपर्यवसित, २ सादि अपर्यवसित और ३ सादि सपर्यवसित।

(१) अनादि अपर्यवसित वन्ध (जुडाव) जीव के आठ रुचक-प्रदेशो का है, जो सदा-सर्वदा रहता है, कभी भी नही छुटता।

(२) सादि अपर्यवसित वन्ध, सिद्ध भगवान् के आत्म-प्रदेशो का है, जो सिद्धशिला के ऊपर लोकान्त पर पहुँच कर जिन आकाश-प्रदेशो मे जहा स्थिर होते हैं, वही अपर्यवसित–अनन्तकाल बने रहेगे। वे प्रदेश कभी भी चलायमान नही होगे–आकाश का एक प्रदेश छोडकर दूसरे मे नही जावेगे।

(३) सादि सपर्यवसित वन्ध के भेद इस प्रकार हैं,–

१ आलापन बंध–घास, लकडी आदि के भार को लता या रस्सी आदि से बाधना।

२ आलीनवन्ध–यह चार प्रकार का होता है यथा–

श्लेषणावन्ध–स्तभ, प्रासाद, आँगन की गच्च (फरसी) आदि जो मिट्टी, चूना, सिमेट आदि से चिपकाकर जोडे जाते हैं। चटाई, कपडा, घर, मिट्टी, कर्दम, लाख, मोम आदि से जोडना–श्लेषणा वन्ध है।

उच्चय बन्ध–घास, लकडी आदि को ढेर रूप से जोड़ना।

समुच्चय वन्ध–कुआं, तालाव, वावड़ी, मन्दिर, प्याऊ,

स्तूप, दुर्ग, सडक आदि, मिट्टी, चूना, सिमेंट तथा वज्रलेप आदि से बाँधना।

महनन बन्ध–इसके दो भेद हैं–१ देशसहनन–गाडी, रथ आदि वाहन, आसन, शयन, स्तभ, मिट्टी के बर्तन, लोहे का कडा, चम्मच आदि का, पदार्थो के साथ जो देश से सम्बन्ध होता है। २ सर्वसहनन–दूध और पानी के समान मिल जाना।

ये सभी बन्ध सादि-सपर्यवसित हैं और जीव के प्रयोग से हुए हैं। अनादि-अपर्यवसित और सादि-अपर्यवसित वन्ध मे पुद्गल का सबध नही होता। पौद्गलिक सबध वाले सभी बन्ध सादिसपर्यवसित होते हैं।

मिश्रपरिणत पुद्गल–जीव के प्रयोग और पुद्गल के स्वाभाविक परिणमन युक्त अजीव द्रव्य। जो पुद्गल, जीव के प्रयोग से तो बने, किन्तु जीव के निकल जाने के बाद उसी आकृति आदि मे रहकर स्वाभाविक रूप से परिणमन करते रहे, वे 'मिश्र-परिणत' हैं। मनुष्य, पशु या एकेन्द्रियादि जीवो के मृत-शरीरो मे, उन जीवो द्वारा जो शरीर बना है, उस शरीर मे से जीव के निकल जाने के बाद भी जबतक उस जीव के प्रयोग से बना हुआ शरीरादि भाव तथा अश कायम रहता है, उस भाव का सर्वथा त्याग नही हो जाता, तब तक वह 'मिश्र-परिणत' माना जाता है।

यो तो जीव-प्रयोग के साथ भी पुद्गल का विस्रसा (स्वाभाविक) परिणमन होता है। वे ही पुद्गल जीव के परिणमन मे आते है, जो वैसे स्वभाववाले हो। औदारिक शरीर बन्ध

के योग्य जीव का व्यापार हो, तो वे ही पुद्गल वर्गणाएँ उससे सम्बन्धित होगी–जो औदारिक शरीर के बन्ध योग्य होगी, अन्य वैक्रिय, आहारक शरीर के योग्य पुद्गल वर्गणाएँ नही बँधती तथा जो बँधती है, वे भी ग्राह्य वर्गणा ही बँधती है, उसी प्रकार की अग्राह्य नही बँधती। इस प्रकार जीव के प्रयोग के साथ पुद्गल का स्वाभाविक परिणमन भी 'प्रयोग-परिणत पुद्गल' मे रहता है। इस अपेक्षा से प्रयोग-परिणत पुद्गल भी 'मिश्र-परिणत' कहे जा सकते हैं, किन्तु यहाँ मुख्यता जीव के प्रयोग की है। जीव भोगी है, स्वामी है, जीव स्वयं पुद्गल का भोग करता है। पुद्गल अपने स्वभाव से जीव को नही भोगता। भोग करना अथवा अकारण ही अपने आप किसी जीव के बन्ध जाना, पुद्गल का स्वभाव या शक्ति नही है। इसलिए जीव के प्रयोग की मुख्यता के कारण प्रथम प्रकार के पुदगलो को 'प्रयोग-परिणत' कहा है और दूसरे प्रकार को 'मिश्र-परिणत' बतलाया है। हमारे ये वस्त्र, प्रमार्जनी, मुँहपती, यह पाट, घर, उपाश्रय, पेन्सिल, कागज, सोना, चाँदी, जीव रहित रत्न, मोती, आदि मिश्र-परिणत हैं।

विस्रसा परिणत–जो पुद्गल, प्रयोग तथा मिश्र परिणति से भिन्न केवल स्वाभाविक परिणति से परिणमन होते हैं, उन्हे 'विस्रसा-परिणत' कहते हैं।

विस्रसा बन्ध के दो प्रकार है,–१ अनादि विस्रसा बन्ध और २ सादि विस्रसा बन्ध। इनमे से अनादि विस्रसा बन्ध तो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, इन अरूपी

अजीवकाय का है, जो सदा-सर्वदा बना रहता है। पुद्गल का अनादि बन्ध नही होता, सादि बन्ध ही होता है। यह तीन प्रकार है, -१ बन्धन प्रत्ययिक, २ भाजन प्रत्ययिक और ३ परिणाम प्रत्ययिक।

बन्धन प्रत्ययिक–परमाणु का द्विप्रदेशी से लगाकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध बनना।

भाजन प्रत्ययिक–मदिरा, गुड और चावल आदि का भाजन मे जम कर गाढरूप बन्ध जाना।

परिणाम प्रत्ययिक–बादल, अभ्रवृक्ष, संध्या, गन्धर्वनगर, उल्कापात, दिशादाह, गर्जना, विद्युत्, धूमिका, महिका, रजोद्घात, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, प्रतिचन्द्र, प्रतिसूर्य, इन्द्रधनुष, उदकमत्स्य, कपिहसित, ग्रहदण्ड, ग्रहमूसलादि प्राकृतिक कार्य (भगवती ३–१) परिणाम प्रत्ययिक हैं।

बन्धुओ ! जीव के प्रयोग से परिणत तथा मिश्र और स्वाभाविक परिणत पुदगलो का प्रपञ्च ही यह दृश्यमान् ससार है। इसका निर्माण जीव और पुद्गल के सम्बन्ध से हुआ है। हमारा ससार, हम ही बनाते है। इसका निर्माण कोई अन्य शक्ति नही करती। जो लोग, इस सृष्टि और जीवमात्र का निर्माता किसी एक महाशक्ति को मानते है, वे उपरोक्त सिद्धान्त से असत्य हैं। यह विश्व केवल जीव और अजीवमय है। हम जिन वस्तुओ का ग्रहण आसेवनादि करते हैं, वे सब जीव द्वारा प्रयोग किये हुए–प्रयोग-परिणत या मिश्र-परिणत पुद्गल है। हमारा प्रयोग-परिणमन चलता ही रहता है। जीव प्रतिसमय अपने

अध्यवसाय तथा मन, वचन और काया के योग से कर्म-पुद्गलों का ग्रहण कर तदनुसार अपना भविष्य स्वयं बनाता रहता है और जैसा करता है, वैसा भोगता है। हम स्वयं खाद्यादि पदार्थों का ग्रहण तथा सेवन करते है, तदनुसार कर्म का ग्रहणादि भी करते हैं।

जो लोग ईश्वर को जीवादि सृष्टि का कर्त्ता तथा पालक-पोषक और संहारक मानते हैं, वे अपनी भूल को नहीं देखते। जब वे यह मानते हैं कि जो कुछ हुआ, हो रहा है और भविष्य मे होगा, वह सब ईश्वर की इच्छा से होता है, 'खुदा की मर्जी के बिना एक पत्ता भी नही हिल सकता' और 'दाने-दाने पर खुदा की मुहर लगी हुई है,' वे विचार करे कि ऐसा मानने पर ईश्वर पर कितने दोष लगते हैं ?

यदि ईश्वर पवित्र, दयालु और कृपानिधान है, तो सीधे सादे एवं गरीब लोगो को सताने वाले ऐसे क्रूर, निर्दय, ठग, डाकू, लम्पट तथा दुराचारी मनुष्य क्यो उत्पन्न किये ? कोई भी व्यक्ति, उत्तम वस्तु का ही निर्माण करेगा, फिर ईश्वर जैसी सर्वोच्च परमोत्तम शक्ति ने ऐसे पापियो को उत्पन्न क्यो किया ? गरीब हिरन, खरगोश, गाय आदि को मारखाने वाले सिंह व्याघ्रादि क्यो उत्पन्न किए ? उसने अपने प्रति शत्रुता रखने वाले ऐसे शैतान को क्यो बनाया ? जब वह शैतान से ही अपना पीछा नही छुडा सकता, तो वह सर्वशक्तिमान् कैसे है ? अरे, उसने ऐसे नास्तिक लोगो को पैदा ही क्यो किए जो उसकी सत्ता मानने से ही इन्कार करते हैं ? वास्तव मे यह

ईश्वर-कर्तृत्ववाद ही निराधार है। सत्य तो यही है कि सृष्टि जीव और अजीवमय है। जीव और अजीव प्रयोग-परिणतादि पुद्गल मय संसार है।

यह सिद्धान्त, उस एकात निश्चयवादी मत को भी असत्य घोषित करता है—जा 'जीव-प्रयोग परिणत पुद्गल' सिद्धान्त के विपरीत बकवाद करता है। इसके प्रवर्त्तक स्वयं सुख-शीलिये वनकर बढिया भोजन करते है, बढिया मोटरो का उपभोग करते हैं, पुस्तको का वाचन करते हैं, वे निश्चयवादी अपनी प्रिय पुस्तक की जिल्द पर चाँदी का आवरण मढा कर अति आकर्षक बनाते है, मन्दिर और मूर्ति का निर्माण करवा कर पूजा भक्ति करते है। अपने मत का प्रचार करके दूसरो को प्रभावित करना चाहते हैं। इस प्रकार स्वय पर-द्रव्य का भोग करते है और पर को प्रभावित करने का प्रपञ्च करते रहते हैं। भूख-प्यास लगने पर उनकी आत्मा मे क्षुधा वेदना तथा अकुलाहट होती है और इच्छित भोजन पानी भोग कर उनकी आत्मा मे तृप्ति होती है, वे रोग से दुखी होते हैं और निरोग होने के लिए औषधोपचार करते हैं। इस प्रकार वे स्वय पुद्गल भोगी ही नही, पुद्गलानदी होते हुए भी आत्मा को पुद्गल का प्रयोग करनेवाला नही मान कर मिथ्यात्व का सेवन कर रहे हैं। ऐसे वाणीविलासी असत्य-वादियो से सावधान रहना चाहिए।

मैं अब इतना ही निवेदन करूँगा कि आप सब विद्वान् है, विचारक हैं। इस विषय पर पूर्णरूप से विचार करे, मनन करे और हृदयगम करके अपने विद्यार्थियो तथा सम्पर्क मे आने वालो के हृदय मे जमाने का प्रयत्न करे।

जीव द्रव्य

(तीसरा दिन १७–६–६७)

मुनि श्री उत्तमचन्दजी म० का व्याख्यान

जीव द्रव्य है और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय तो केवल एक-एक द्रव्य ही है, किंतु जीव द्रव्य अनन्त हैं। अनन्त जीव होते हुए भी चैतन्य लक्षण एव मूल स्वभाव की समानता सभी मे रही हुई है और समानता की अपेक्षा जीवो के समूह को, द्रव्य एवं तत्त्व मे एक बतलाया है। भेद-दृष्टि पर्याय की अपेक्षा है। जब भेद समझाये जाते हैं, तो सिद्ध और ससारी अथवा सकर्मी और अकर्मी–ये दो भेद हो जाते है। ससारी जीवो मे भी त्रस और स्थावर–ऐसे दो भेद हैं। पुरुष, स्त्री और नपुसकवेद–ये तीन भेद हैं। देवादि गति भेद से चार प्रकार अथवा तीन वेद और अवेदी–ये चार भेद। एकेन्द्रियादि भेद से पाच प्रकार अथवा चार गति और सिद्ध गति–यो पाँच भेद, पृथिवीकायादि छह भेद, अथवा पञ्चेन्द्रिय और अनिन्द्रिय–यो छह भेद। छह काय और अकाय (सिद्ध) ये सात भेद। इस प्रकार बढते-बढते १५ भेद तक किये जाते हैं। ये पन्द्रह भेद इस प्रकार हैं,–१ सूक्ष्म एकेद्रिय २ बादर एकेद्रिय ३ बेइद्रिय ४ तेइंद्रिय ५ चौरेद्रिय

६ असञ्ज्ञी पचेंद्रिय और ७ संज्ञी पचेंद्रिय। इन सातो के पर्याप्त और अपर्याप्त-ये १४ भेद हुए। ये १४ भेद संसारी जीवो के हैं, इनमे सिद्ध जीवो को मिला कर पन्द्रह भेद होते है। विस्तार से जीव के ५६३ भेद किये गये हैं। ये सभी भेद द्रव्याश्रित पर्यायो से है। जीव, अपनी शुभाशुभ क्रियाओ से कर्मों का उपार्जन करता है और तदनुसार परिणत होता है। जीव स्वयं तो अरूपी-अमूर्त है, किंतु विभाव-दशा के चलते रूपी पुद्गल से बँधा हुआ, गति आगति करता है। उपरोक्त चौदह प्रकार के जीवो को ज्ञानियो ने २४ दण्डक मे भी विभाजित किया है। कर्म की विचित्रता से अनन्त जीव, इतने सूक्ष्म है कि हमारे जैसे छद्मस्थ मनुष्य उन्हे देख ही नही सकते। निगोद के जीवो से, यह ससार भरा हुआ है। एक अंगुल जितने स्थान मे असख्य गोले है, एक गोले मे असंख्य निगोद हैं और प्रत्येक निगोद मे अनन्त जीव है। विचार कीजिये कि निगोद के जीव कितने सूक्ष्म है? यह ससारी जीव की हीनतम पर्याय है। बढते-बढते यह विराट रूप मे भी हो सकता है। जब उत्तर वैक्रेय होता है तब लाख योजन तक का हो सकता है। जिनागमो मे जीव की गति, जाति, शरीर, सहनन, सस्थान, अवगाहना, आयुष्यादि का विशद वर्णन है। आत्मा का मूल स्वभाव सम्यग्ज्ञान-दर्शनमय है, किंतु आत्मा अनादि काल से अशुद्ध परिणति-कापायिक भाव मे रत-होकर योग प्रवृत्ति करता हुआ कर्मों से बँधता रहा है। श्री गौतमस्वामी जी म० के पूछने पर भगवान् ने बताया कि-जिस प्रकार पानी से भरपूर जलाशय मे सैकडो-हजारो छिद्रो वाली

नौका रखने पर चारो ओर से पानी भराता है और वह नौका डूब जाती है, इसी प्रकार आत्मा मे विषय-कषाय रूपी छिद्र पड हुए हैं, योगाकर्षण से कर्मरूपी पानी, नौका मे आकर भारी बना देता है, उससे वह आत्मा रूपी नौका ससार रूपी समुद्र मे डूब जाती है। जीव स्वयं अपने राग-द्वेष रूपी विकारी भाव से कर्म-पुद्गलो को आकर्षित करके बँधता है, अपने लिए बन्धन तय्यार करता है और वह बन्धन पुन. विकारी भाव उत्पन्न कर बन्ध-परम्परा चलाता रहता है। इस प्रकार जीव के साथ पुद्-गल का सम्बन्ध अनादि काल से चलता रहता है। जब जीव, स्व-पर का स्वरूप समझ कर, राग-द्वेष का ताँता तोड देता है, तो केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होकर निज स्वभाव को प्रकट कर लेता है।

जीव का अशुद्ध एव विशुद्ध स्वरूप बतला कर जैनधर्म उपदेश करता है कि—हे भव्य जीवो ! समझो। जीव अजीव का भेद जान कर विरत बनो। विषय-कषाय जो भव-परम्परा बढाता है, उसका उन्मूलन करके परम विशुद्ध परमात्म पद को प्राप्त करो। यही आत्मा का परम विशुद्ध स्वरूप है।



पडित श्री प्रकाश मुनिजी म० का व्याख्यान

जीवादि तत्त्वो का स्वरूप बतलाने मे जैनदर्शन अद्वितीय एवं सर्वोपरि है। 'जीव' का अर्थ है—"**जीवति प्राणान् धारयतीति जीव**"—जो जीता है, प्राण धारण करता है, वह

जीव है। जीव तत्त्व की मान्यता इतर दर्शनो मे भी है, अन्य दर्शनो मे भी जीव का स्वरूप बतलाया है, किन्तु जैनदर्शन के समान विशद एव स्पष्ट नही, निर्दोष नही। जैनदर्शन अनेकात दृष्टि से जीवादि तत्त्वो का निरूपण करता है। जैनदर्शन ने जीव को परिणामी-नित्य बतलाया है। कोई आत्मा को कूटस्थ-नित्य मानता है, तो बौद्धादि एकात क्षणिकवादी हैं। वे जीव को एकात विनाशी मानते हैं। सभी द्रव्य परिणामी-नित्य है। एक अपेक्षा से नित्य है और दूसरी अपेक्षा से अनित्य भी है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्याय से युक्त होता है। द्रव्य मे गुण तो होते ही हैं, बिना गुण के कोई भी द्रव्य नही हो सकता। गुण के पात्र को ही 'द्रव्य' कहते हैं। गुण भी पर्यायो से युक्त होता है। क्रमपूर्वक परिवर्तित होने वाली अवस्था को 'पर्याय' कहते हैं। जीव-द्रव्य का गुण ज्ञानादि उपयोग है। यह गुण प्रत्येक जीव मे होता है। प्रत्येक जीव चेतना लक्षण से युक्त है। अपने गुणो से जीव कभी पृथक् नही होता। चाहे सूक्ष्म हो या बादर, ससारी हो या सिद्ध, गुण तथा पर्याय से रहित कोई भी जीव नही है। निगोद अवस्था मे जीव अत्यत निकृष्ट दशा मे होता है, उस समय उसके गुण एव लक्षण अत्यंत दबे हुए तथा मन्दतम रूप से रहते है। एकेन्द्रिय बेइन्द्रिय आदि पर्याय मे गुणो का क्रमश विकाश होता जाता है और उपयोग गुण उत्तरोत्तर प्रकट होता है। जीव की दो पर्याय है,—व्यञ्जन और अर्थ-पर्याय।

व्यञ्जन—जिसमे आत्म-प्रदेशो का, कर्म सहित जीव में

विविध आकारो मे परिवर्त्तन होना बताया जाय वह 'व्यञ्जन पर्याय' है। जीव का निज स्वरूप तो शुद्ध है, किन्तु बद्धावस्था के कारण उदयानुसार नरक से तिर्यञ्च, तिर्यञ्च से मनुष्य और मनुष्य से देव आदि विभिन्न अवस्था प्राप्त करना, आत्म-प्रदेशों का सकुचित और विकसित होना, यह सब व्यञ्जन पर्याय है। यह दो प्रकार की है,—अशुद्ध और शुद्ध। नारकादि पर्यायो में परिवर्तित होना अशुद्ध व्यञ्जन पर्याय है और सिद्ध अवस्था मे आना शुद्ध पर्याय है। व्यञ्जन पर्याय मे आकार का परिवर्त्तन होना है। उपयोग गुण को सदैव साथ रखते हुए भी विभिन्न परिवत्तन होना व्यञ्जन पर्याय है।

अर्थ पर्याय—आत्मा के भावो मे परिवर्त्तन होना 'अर्थ-पर्याय' है। सुख, दु ख, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि अशुद्ध अर्थ-पर्याय है और वीतराग भाव—आत्मानन्द शुद्ध पर्याय है।

जीव-द्रव्य अपने गुण तथा पर्यायो से युक्त है। केवल जैन-दर्शन ही आत्मा को गुण-पर्याय से युक्त 'परिणामी-नित्य' मानता है। जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व, इसके पारिणामिक भाव हैं।

'भव्य'—"भाविनी सिद्धिर्येषा भव्यः"—जो भविष्य में सिद्ध होगे—वे भव्य हैं। इसके विपरीत अभव्य हैं। वे कभी भी सिद्ध नही हो सकेगे। अभव्य जीवो का ससार परिभ्रमण अनादि-अपर्यवसित है—सदा-सर्वदा कायम रहने वाला है। अभव्य जीव 'अनादि-अपर्यवसित' वर्ग मे है और भव्य जीव, 'अनादि सपर्य-

प्रबुद्ध, मूर्छित आदि विभिन्न अवस्थाओ का अनुभव करता है, छोटे से बडा होता है, संकुचित-विकसित होता है, फिर कूटस्थ नित्य कैसे रहा ? जिसके ज्ञान, समझ, अनुभव एव भावों में विविध प्रकार का परिणमन होता रहे, वह भी क्या कूटस्थ नित्य हो सकता है ?

प्रतिक्षण विनाशी मानना भी भूल है। पर्याय मे परिवर्त्तन होते हुए भी जीव-द्रव्य शाश्वत ध्रुव एव नित्य है। बालक था तो वही और बडा हुआ तो भी वही जीव है। जन्म-मरण, गति, भवादि परिवर्त्तन मे भी जीव तो वही है। वह वर्षों पुरानी बाते तथा अनुभव स्मृति मे रखता है। यदि जीव स्वयं प्रतिक्षण विनाशी होता, तो पिछली स्मृति नही रहती। अतएव आत्मा को परिणामी-नित्य मानना ही उचित है। वह उत्पाद और व्यय पर्याय से युक्त होते हुए भी द्रव्य के रूप से ध्रुव है, शाश्वत है, नित्य है। प्रत्येक आत्मा का हित इसी मे है कि अशुद्ध पर्यायों का त्याग कर शुद्ध पर्याय प्राप्त करे।



पूज्य बहुश्रुत श्रमण-श्रेष्ठ का प्रवचन

जीव द्रव्य के विषय मे अभी आपने सुना है। भेदानुभेद का वर्णन दोनो मुनियो ने किया है। जीव-द्रव्य का विषय बहुत विशाल है। सारा तत्त्वज्ञान, जीव सम्बन्धी विभिन्न अपेक्षाओ से सम्बन्धित है। और है भी जीव के ही लिए। अजीव द्रव्य भी

अन्यमतावलम्बी आत्मा को शरीर प्रमाण नही मान कर कोई अंगुष्ठ प्रमाण मानता है और कोई सर्व-व्यापी। यदि अंगुष्ठ प्रमाण ही माना जाय, तो शेष शरीर मे स्पर्शानुभव नही होना चाहिये। यदि सर्व व्यापक माना जाय, तो शरीर के बाहर रहे हुए विभिन्न नारकादि भावो का अनुभव भी होना चाहिए। किन्तु प्रत्यक्ष ही यह बात असत्य दिखाई दे रही है।

कूटस्थ-नित्य मानने पर अनेक बाधाएँ खडी होती है। कूटस्थ का अर्थ है-"**प्रतिनियतस्वरूपाप्रच्युतिरूपत्वं कौटस्थ्यम्**"-प्रतिनियत स्वरूप का स्थिर रहना, उसमे किसी प्रकार का परिणमन एवं परिवर्त्तन नही होना-ठोस ही रहना 'कूटस्थ' है और 'नित्य' का अर्थ है-"**अप्रच्युतानुपपन्नस्थिरैकस्वभावं नित्यम्**"-उत्पत्ति एव विनाश से रहित, स्थिर तथा एक ही स्वभाव वाला 'नित्य' कहलाता है। अर्थात् जो द्रव्य सदैव स्थिर ठोस एवं अपरिवर्त्तनीय हो, जिसमे किसी भी प्रकार का, कभी भी परिवर्त्तन नही होता हो, वह कूटस्थ-नित्य है।

आत्मा को कूटस्थनित्य-सदैव एक ही स्वरूप मे अपरिवर्तनीय मानने वालो की बात तो प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध स्पष्ट दिखाई देती है। यदि आत्मा सदैव शाश्वत, एक ही रूप मे रहता होता, उसमे किञ्चितमात्र भी परिवर्तन नही होता, तब तो यह बात सत्य होती। किन्तु जीव, गर्भ मे आता है, जन्म लेता है। बाल, शैशव, युवा आदि अवस्थाएँ प्राप्त करता है, मरता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है, हँसता, रोता, सोता, जागता, मूर्ख, विद्वान्,

हैं। मोहनीय कर्म के दो भेद है–१ दर्शनमोहनीय और २ चारित्र-मोहनीय। दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ है और चारित्र-मोहनीय की पच्चीस। चारित्रमोहनीय की २५ प्रकृतियो मे से आदि की चार–अनन्तानुबन्धी चतुष्क का दर्शन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। इनका उपशम, क्षयोपशम या क्षय हुए बिना सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हो सकता। ऐसा नही हो सकता कि चारित्रमोहनीय के अनन्तानुबन्धी चोक का रसोदय रहते सम्यग्-दर्शन प्राप्त हो जाय। सम्यग्दर्शन भी तभी प्राप्त होता है, जब कि चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षयोपशमादि हो। इस प्रकार दर्शनमोहनीय की सहचारी अनन्तानुबन्धी कषाय से विरत होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। सम्यग्दर्शन की उपस्थिति मे अनन्तानुबन्धी कषाय की अविरति नही रह सकती। कहने का तात्पर्य यह कि सम्यक्त्व की प्राप्ति मे भी अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क की विरति अनिवार्य होती है। चारित्र से सर्वथा निरपेक्ष सम्यग्दर्शन नही हो सकता, तब आगे के गुणस्थान मे विरति की कितनी आवश्यकता होती है–यह समझना सरल हो जाता है।

विरति मुख्यत दो प्रकार की है–१ देश विरति और २ सर्व विरति।

सर्व प्रथम विरति मे श्रद्धा होना आवश्यक है। व्यक्ति के दोषो को जान देख कर, उस पर अविश्वास होना एक बात है, किन्तु श्रावको के व्रत तथा साधुता मे ही अविश्वास होना और कहना कि–"क्या धरा है साधुता मे, क्या लाभ है साधु बनने

मे ?" ऐसा सोचना बुरा है। इससे तो सम्यक्त्व से भी पतन हो सकता है। जो सम्यग्दृष्टि हैं, उन्हे विरत तो होना ही पडेगा। आज हो या भविष्य मे। जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन अर्द्ध पुद्गल-परावर्तन मे विरत होना ही पडेगा। सम्यग्दर्शन प्रकट होने पर चारित्र की प्राप्ति निश्चित् हो जाती है। सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद विरत होने का पुरुषार्थ अवश्य होना चाहिए, जिससे आत्मा का उत्थान होकर मुक्ति के निकट होती रहे, अन्यथा पतन होकर मिथ्यात्व के चक्कर मे पड कर दु.खी होना पडता है और बाद मे फिर सम्यक्त्व पा कर विरत होना ही पडता है। अतएव सम्यक्त्व प्राप्त कर विरति के लिए पुरुषार्थ करना ही चाहिए।

श्रावक के देश-व्रत और साधु के सर्वव्रत–महाव्रत, इस प्रकार विरति के दो भेद हैं। जो सर्वव्रत धारण नही कर सके उसके लिए श्रावक के देशव्रत हैं। गृहस्थ रहा हुआ श्रावक व्रतो का पालन कर सकता है। श्रावक के बारह व्रत हैं, परन्तु वह अपनी इच्छा एव योग्यतानुसार एक व्रत यावत् बारह व्रत और श्रावक-प्रतिमा को धारण कर सकता है। उसके व्रत के ४६ भंग हैं। एक करण एक योग से लगा कर तीन करण तीन योग के भेद से श्रावक व्रत के ४६ भंग बनते हैं। इनमे से किसी भी भग से श्रावक-व्रतो का पालन कर सकता है। किन्तु साधु के लिए तो तीन करण और तीन योग से–केवल ४६ वे भग से ही सर्व-विरति का विधान है।

पाप को रोकने के लिए करण और योग पर प्रतिबन्ध

लगाना आवश्यक है। जीव के मन, वचन और काया-ये तीन योग हैं। कुछ जीवो के तीनो योग होते है, कुछ के मन को छोड कर दो और अनन्त जीव केवल काय-योगी ही हैं। विरति के योग्य जीव तीन योग वालो मे से तिर्यञ्च और मनुष्य ही होते हैं। नारक और देवो के भी तीन योग है, किन्तु वे विरति नही ले सकते-देशविरत भी नही हो सकते। तिर्यञ्च देशविरत हो सकते हैं और मनुष्य तो देशविरत और सर्वविरत निर्ग्रंथ भी हो सकते हैं।

पाप-प्रवृत्ति मन से भी होती है, वचन से भी और काया से भी। पाप, इन तीनो योगो से स्वय भी किया जाता है, दूसरो से भी कराया जाता है और पाप का अनुमोदन भी किया जाता है। मन से-१ करना २ कराना और ३ अनुमोदन करना, ये मनोयोग के तीन करण हुए, इसी प्रकार वचन के तीन करण और काया के तीन करण-यो नौ प्रकार हुए। इन्हे 'नौ कोटि' कहते हैं। गृहस्थ अपनी योग्यतानुसार एक करण एक योग से लगा कर इनमे से जिस कोटि से पाप का त्याग करना चाहे, उस कोटि से कर सकता है, किन्तु साधु को तो अठारह पाप का सम्पूर्ण नौ कोटि से ही त्याग करना होता है। किसी ने किसी व्यक्ति को या स्थावरकाय के जीव को मारा, खेदित किया, अपराधी को दण्ड दिया, क्रूर प्राणी को मार डाला, झूठ बोला, बिना दी हुई वस्तु ली, विषय-सेवन किया, धन-धान्यादि का सचय किया-कराया, तो साधु ऐसे कार्यों को मन से भी 'अच्छा' नही मान सकते। यदि कोई मन से भी अठारह पाप या इनमे

से किसी एक की अनुमोदना करे, तो उस करण-योग से उसके महाव्रत मे क्षति होती है। समस्त करण-योग से सभी पाप-कृत्यो का त्याग करने पर ही मनुष्य साधु हो सकता है।

कोई पूछ सकता है कि—'महाराज! किसी के किसी कार्य की सराहना मात्र करने मे कौन-सा पाप हो गया?' उन्हे सोचना चाहिए कि—चोरी, जारी या हत्या की प्रकट सराहना करने पर, सभ्य एवं सदाचारी लोग मन मे समझ लेते हैं कि सराहना करने वाले की चोरी, जारी एव हत्यादि पाप मे रुचि है। सगीन चोरी के मामले मे सराहना करने वाले पर भी पुलिस सन्देह करती है और उसे पकड कर जाँच करती है *। पाप की सराहना, पाप-प्रिय ही करते है। प्राय मन मे पाप की रुचि होने पर पाप की सराहना होती है। यह पाप-रुचि पाप-कर्म से आत्मा को जकडती है। इसीलिए परम उपकारी सर्वज्ञ भगवत ने पाप को सर्वथा रोकने के लिए मानसिक मौन-समर्थन का भी निषेध किया है। मन, वचन और काया के अशुभ योगयुक्त आत्मा की काषायिक परिणति ही पापबन्ध की

---

* म गाँधी की हत्या के निमित्त से अनुमोदक साहित्य के लेखक प्रकाशक को भी पकडा गया है। 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' या 'माओत्सेतुग जिन्दाबाद' के नारे लगाने वाले को भारत मे सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है और माना जाता है कि वे भारत के शत्रुओ के प्रिय है। उनके घर की तलासियाँ होती है, गिरफ्तारी होती है और उन्हे परेशान होना पडता है। यह पाप के अनुमोदन का लौकिक प्रमाण है—स।

कारण है। इनकी विरति है—मुक्ति का कारण।

लौकिक पापाचार अथवा राजकीय नियम भग का दण्ड तभी मिलता है, जब कि अपराधी का पाप खुला हो जाय और वह पकड मे आ जाय। इसके लिये गुप्तरूप से पुलिस तथा भेद लेने वाले जासूस घूमते रहते है। परन्तु पाप-कर्म के लिए न तो पुलिस की आवश्यकता होती है और न न्यायाधिकारी की। आत्मा अपने अध्यवसाय मे ही पापकर्मों को आकर्षित कर बँध जाती है और तदनुसार फल भोगती है। उसका पापकर्म ही उसके बन्धन और फल-भोग का कारण बनता है।

जिस प्रकार इमली खाने से बादी होती है, भंग-मदिरादि पीने से नशा चढता है और विष खाने से मृत्यु हो जाती है। बादी, नशा या विप के प्रभाव को बताने या भुगताने के लिये पुलिस जैसी किसी तीसरी शक्ति की आवश्यकता नही होती, उसी प्रकार अपने पापकर्मों के बन्धन एवं फलभोग मे भी किसी अन्य शक्ति की आवश्यकता नही होती।

भगवान् ने पाप का सर्वथा नाश कर के आत्मा को परम-पवित्र परमात्मा बनाने का उपाय बताया है—हिंसादि पापो का मन, वचन और काया के योगो से स्वय करने, दूसरो से करवाने और अनुमोदन करने रूप नो कोटि से विरत होना। विरति पाप का मार्ग ही रोक देती है। जो पापो से सर्वथा विरत होते हैं, वे महाव्रतधारी श्रमण-निर्ग्रंथ होते हैं। जिनमे इतनी शक्ति नही,वे देशविरत श्रावक हो जाते हैं। वे सोचते हैं कि—"जिनेश्वर भगवंत का मार्ग तो विशुद्ध है। सर्वत्यागी बनने पर ही आत्म-

हित हो सकता है, किंतु मैं अभी इस योग्य नही हूं। मुझ से मोहनीय का इतना त्याग नही हो सकता। मैं पामर हूँ, इसलिए अभी कमजोरो के योग्य देश-विरति ही धारण कर रहा हूँ। मेरा वह दिन धन्य होगा जब मैं सर्वविरतिरूप महाव्रतो को धारण कर के पालन करने मे समर्थ हूँगा।" गृहवास मे रह कर सर्वविरति का पालन कर सकना अशक्य है। कुटुम्ब पालन, व्यापार-व्यवसाय, भोजनादि रांधने—पचाने आदि प्रपञ्च मे आरम्भ-परिग्रह का सेवन एव सावद्य प्रवृत्ति होती रहती है। इसलिए गृहस्थपन मे सर्वविरति का पालन नही हो सकता। फिर भी गृहस्थ सावधानी रखे, तो व्यर्थ के आरम्भ-परिग्रह, हिंसा, झूठ, बेईमानी, दुराचार आदि से तो बच सकता है। पुराने माल को नया कहने, खराब को अच्छा बताने, बासी पदार्थ को गरमागरम और ताजा कहने जैसी धोखा देने की अशुभ वृत्ति से बच सकता है। गृहस्थ को भी, पाप से अधिक से अधिक बचते रहने की सतर्कता रखनी चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं कि "महाराज! पाप नही करना तो अच्छा ही है, किन्तु प्रत्याख्यान करना तो बन्धन मे पड़ना है। व्रत लेने पर हम बन्धन मे पड़ जाते हैं। इसलिए हम बन्धन मे रहना पसन्द नही करते। आपका धर्म तो मुक्तिमार्ग है—बन्धनो से मुक्त करानेवाला मार्ग। फिर आप विरति और प्रत्याख्यान के बन्धनो मे हमे क्यो बांधते हैं?" ऐसे बन्धु, रक्षा के साधन एवं मुक्ति की ओर ले जाने वाले निरापद वाहन को भी बन्धनरूप मानते हैं। सज्जनो! विरति बन्धन नही है।

आत्मा को कर्मबन्धनो मे बाँधने वाली तो अविरति है। विरति तो आत्मा को सुरक्षित रखते हुए मुक्त कराने वाली है।

आप लोग शर्दी से वचने के लिए शरीर पर अधिक वस्त्र क्यो पहनते हैं ? गरम कपडो से शरीर को विशेष रूप से क्यो बाँधते हैं ? धूप और वर्षा से बचने के लिए मकान के बन्धन मे क्यो रहते है ? सोना, चाँदी, गहने, रुपये, नोट आदि को तिजोरी के बन्धन मे क्यो रखते हैं ? इसलिए कि आप उन्हे बन्धन नही मान कर रक्षा का साधन मानते हैं। युद्ध मे जाने वाले राजा और सेनापति अपने शरीर को लोहे के वजनदार कवच से बांधते हैं, मस्तक पर लोहे का भारी टोप रखते हैं। उसे वे बन्धनरूप नही मान कर आत्म-रक्षा का साधन मानते हैं। इसमे वे अपना हित देखते हैं। घृत, तेल, रोटियाँ आदि को आप डिव्वो, वर्त्तनो आदि के बन्धन मे क्यो रखते हो ? खुले क्यो नही रखते ? इसीलिए कि खुली रखी हुई रोटियो को कुत्ता-विल्ली आदि खा जायँगे, चूहे खिच जायँगे, घृत, तेल मे मक्खियाँ, चिटियाँ और चूहे आदि गिर कर खराब कर देंगे। आप उनकी रक्षा के लिए तदनुरूप बन्धन स्वीकार करते हैं, अपने पावो को मोजो और जूतो से वांधना आवश्यक समझते हैं, किन्तु आत्मा की रक्षा एवं उत्थान करने वाली विरति, त्याग एवं प्रत्याख्यान को बन्धनरूप मान रहे हैं—यह विचारणा उचित नही है। भगवान् ने तुम्हे वांधने के लिए विरति का उपदेश नही दिया, मुक्त करने के लिए दिया है।

धनवान लोग अपने लिए बड़े विशाल और सुदृढ़ भवन

बनाते हैं। कई विशेष रूप मे भवन के आसपास परकोटा खिच-कर मजबूत फाटक लगाते हैं और उस पर बन्दूकधारी सन्तरी का पहरा रखते हैं। कितना बन्धन है उनके ? क्यो ? क्या वे इसे बन्धन रूप मानते हैं ? नही, उन्हे बाहर से खतरे का भय है। उस भय से सुरक्षित रहने के लिए वे इतना प्रबन्ध करते हैं। गरीब मनुष्य के पास साधन नही हो, तो भी वह घासफुस की झोपडी बना कर उसके भीतर रह कर अपनी, अपने बर्तनो की और ढोरो की रक्षा करेगे। वे झोपडी को बन्धन रूप नही, रक्षक साधन के रूप मे मानेंगे। पक्षिगण भी एक-एक तिनका इकट्ठा करके वर्षा से बचने और अपने अंडो व बच्चो की सुरक्षा के लिए घोसला बनाते हैं, उसे वे बन्धन रूप नही, परन्तु रक्षा रूप मानते हैं। तब आप समझदार कहाने वाले मनुष्य, मुक्ति-प्रदाता व्रत-प्रत्याख्यान को बन्धन रूप माने, यह कैसी स्थिति है ? लगता है कि विरति को बन्धन रूप मानने-मनवाने वाले बन्धुओं पर मोहनीयकर्म का विशेष जोर है। अच्छा हो कि वे अनन्तानुबन्धी के बन्धन से बच कर आगे बढे। विरति को बन्धनरूप–हेय मानने वाले की मनोवृत्ति अनन्तानुबन्धी के दृढ बन्धन मे डालने वाली हो जाती है। यदि ऐसी आत्मा सम्यक्त्व पाई हुई हो, तो भी मिथ्यात्वाभिमुख मानी जाती है। जो सम्यक्त्वी विरत नही होगा और विरति को बन्धन रूप हेय मानता रहेगा, उसे मिथ्यात्व मे जाना ही पडेगा।

बहुत-से मनुष्य उलटी विचारधारा के होते हैं। वे हित-कारी प्रवृत्तियो मे सन्देह कर के रुक जाते हैं और हानिकारक

प्रवृत्तियो को सन्देह रहित होकर अपना लेते है। श्री सूत्रकृताग मे भगवान् ने फरमाया है कि–"**असंकियाइं संकंति, संकियाइं असंकिणो,**" जिस प्रकार मृग उस मार्ग को सुरक्षित समझ कर जाता है, जिस पर जाल बिछा हुआ है, और निरापाद मार्ग पर सन्देह करता है। इसी प्रकार विरति को बन्धन रूप मानने वाले जीव हैं, जो विरति रूपी मुक्ति मार्ग पर तो शका करते हैं और ससार मे रुलाने वाली अविरति पर निःशक होकर प्रीति रखते हैं।

कुछ लोग यो भी कहते हैं कि–"हम जैनी हैं, हम बहुत-से पाप तो करते ही नही, फिर व्रत लेने की आवश्यकता ही क्या है ? और जो कार्य परिस्थितिवश करने पडते हैं, उनकी रोक कैसे करें?"

उन्हे समझना चाहिये कि बहुत-सी वस्तुओ को मनुष्य जानता ही नही, बहुत-सी जाति-मर्यादा, कुल-मर्यादा से काम मे नही आती, इस प्रकार उनके भोग से वञ्चित रहना भी ठीक है, किन्तु इससे विरति का लाभ नही होता। विरति का लाभ होगा–इच्छापूर्वक त्याग करने से।

किसी युवक ने लग्न किये। मन मे भोग की तीव्र उमग है, परन्तु घर पहुँचते ही ज्वर हो आया, सिर मे दर्द और पेट मे कटाव होता है, वह छटपटा रहा है। बिमारी मे कुछ दिन पड़े रहने और भोग से वञ्चित रहने पर क्या वह ब्रह्मचारी माना जायगा ? नही, क्योकि उसने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने की इच्छा से त्याग नहीं किया। उसके मन मे से भोग-

रुचि मिटी नही, वह रोगोत्पत्ति के कारण विवश है। रोगमुक्त होते ही वह मैथुन प्रवृत्ति का इच्छुक है। अतएव विवशता या अप्राप्ति अथवा अजानकारी आदि से भोग नही कर सकना, विरति नही है। विरति है–समझ एव इच्छापूर्वक त्याग करना।

कई मनुष्य झूठ बोलने वाले होते हैं। उनके विषय मे लोगो की धारणा बन जाती है कि–'अमुक महाशय नही बोले तो ही अच्छा होगा। उनका बोलना विपत्ति को आमन्त्रण देने के समान है।' वे महाशय बीमार पडे, कंठ रोग या अन्य रोग से बोलना बन्द हो गया। अब वे झूठ नही बोल सकते, तो क्या वे झूठ के त्यागी एव सत्यवादी माने जावेगे ? नही।

एकेन्द्रिय जीवो के तो मुंह और जीभ भी नही, वे बिचारे बोले ही क्यो कर ? जब वे बोल नही सकते, चल-फिर नही सकते, तो उन्हे त्यागी माना जाय क्या ? नही, वे अपनी विवशता के कारण वैसा कुछ कर नही सकते, परन्तु वे विरत या त्यागी नही हैं। वे त्याग और विरति मे कुछ समझते ही नही। उन्हे अठारह ही पाप लगते हैं। जब तक पाप की चली आ रही विचारधारा या ओघसंज्ञा नही छुटी और समझपूर्वक त्याग का पालन नही किया, तब तक विरति का लाभ नही हो सकता। सूत्रकृताग अ. २० (श्रु. २ अ ४) मे इस प्रकार की शका का समाधान करते हुए उदाहरण दिया है कि–जिस प्रकार कोई मनुष्य, किसी दूसरे मनुष्य पर क्रुद्ध है और उसकी घात करना चाहता है, किन्तु वह व्यक्ति सदैव अग-रक्षको एवं दास-दासियो से घिरा रहता है, इसलिए घातक को मारने का अवसर

ही नही मिलता और वह विवश रहता है, फिर भी वह उस व्यक्ति का मित्र या हितैषी नही माना जाता। यदि उसे वर्षों तक या जीवनपर्यन्त मारने का अवसर नही मिले और वह अपना मन अन्य कार्यों मे लगाये रखे, सोता, खाता, पीता, हँसता, खेलता और मौज करता रहे, तो भी वह उस व्यक्ति के प्रति वैरभाव एव घातकभाव से युक्त ही रहेगा। जब तक वह समझपूर्वक उस दुर्वृत्ति का त्याग नही करता, तब तक वह लगातार वैरी एव घातक रुचिवाला ही बना रहेगा।

आत्मा पूर्वभवो मे विविध देशो, प्रदेशो, गतियो और जातियो मे उत्पन्न हुआ, जाति-वैर, वश-वैर मे रहा, सिंह-व्याघ्रादि क्रूर भव पाया और जीवनभर हिंसादि पाप करता रहा। उस पाप परिणति मे ही मर कर अन्योन्य भव मे, उस पापपरिणति को कायम रखता हुआ जाता रहा और उस पाप के सतत प्रवाह को प्रत्याख्यान के द्वारा काटा नही, तो विरति कैसे आ सकती है ? पाप का काम नही हो सकने से विरति नही आ सकती, विरति आती है–पाप-प्रवाह को प्रत्याख्यान से तोड देने पर।

एक मनुष्य का दूसरे से विरोध था। एक बार उस विरोधी का पुत्र कही अकेला जा रहा था। उधर से उसका एक अन्य शत्रु आया और लडके को मारने को तत्पर हुआ। यह देख कर पहले विरोधी की भावना मे परिवर्त्तन आया। बालक की असहाय दशा एवं करुणाजनक पुकार ने उस पहले विरोधी का हृदय पलट दिया। उसने उस दूसरे विरोधी से बालक की

रक्षा की और सकुशल घर पहुँचा दिया, साथ ही पूर्व वैर का त्याग कर दिया। इस प्रकार विरोध का तांता टूटने पर ही हितैषीपन हो सकता है। यही बात अविरति का तांता, विरति के द्वारा तोडने के विषय मे है। अविरति का तांता विरति के द्वारा तोडना आवश्यक है।

अशक्य अवस्था मे पाप नही होने से अविरति का पाप नही रुकता। वृद्धावस्था मे वेश्यावृति नही चलती, इससे वेश्या ब्रह्मचारिणी नही हो सकती। यह तो शक्ति, योग्यता एवं अनुकूलतादि होने न होने की स्थिति है। शक्ति आदि होने पर पाप किया, नही होने पर विवश रहा, इससे विरति का लाभ नही मिलता। इसलिए रुचिपूर्वक विरति स्वीकार करनी चाहिए। यदि सर्वविरति की अपनी योग्यता नही हो, तो देशविरति अंगीकार करके पालन करनी चाहिए।

कोई कहते हैं—'साधुपन अच्छा नही, श्रावकपन अच्छा नही'—इस प्रकार बोलने वाले जैनी नामधारी वैसे हैं, जैसी वह कुलागना नारी, जो कहती है कि—'वेश्यापन अच्छा है, सतीपन खराब है।' ऐसे व्यक्ति जैन कुलोत्पन्न हो, तो भी जैनी नही माने जा सकते।

व्रत ग्रहण करने के बाद उसका पालन भी पूरी तरह करना चाहिए। यदि व्रत पालन मे उपेक्षा की, बेपरवाही की, तो व्रत मे दोष लगता है। उपेक्षापूर्वक पालन मे बेगार जैसी दशा होती है और इससे व्रत का यथार्थ फल नही होता। पुलिस कर्मचारी, जहाँ दो तीन या चार मार्ग मिलते हैं, वहाँ

खडा रह कर मोटर, तागा आदि वाहनो के गमनागमन पर नियन्त्रण रखता है। वह अपने हाथ के सकेत से वाहनो को चलाता और रोकता है। यदि वह बेपरवाही कर दे, खेल तमाशा देखने लगे, या सो जाय, तो क्या परिणाम हो ? कितनी दुर्घटना हो जाय ? फिर उसकी वह छोटीसी नोकरी रहे ? इतना ही नही, उसे उसकी बेपरवाही का दु खद परिमाण भी भोगना पडे। उसकी नोकरी केवल वर्दी पहनने मात्र की नही, परन्तु कर्त्तव्य पालन करने की है। इसी प्रकार व्रत लेने और वेश परिवर्त्तन करने मात्र से ही व्रत का फल नही होता। व्रतो का विशुद्ध रीति से पालन करने से ही वास्तविक लाभ होता है।

भगवन फरमाते है–"**सुत्ते वा जागरमाणे वा**" सोये हो या जाग रहे हो, तुम्हे अपने व्रतो मे सदैव सावधान रहना है। आप अपने धन की रक्षा का कितना ध्यान रखते हो ? बाहर जाते हो और पास मे सौ-पचास के नोट हो, तो सावधानी रखते हो और यह ध्यान रखते हो कि कही कोई हमारे रुपये नही चुराले, तो व्रत रूपी धर्म-धन कितना कीमती है ? इस धर्म-धन के प्रति असावधानी क्यो रखी जाय ?

शारीरिक रोग मिटाने के लिए वैद्य की आज्ञा का पालन करते हो। वैद्य कहे कि तुम नमक, मिर्च, मसाला आदि नही खा सकते, रूखा ही खाना पडेगा, यदि वह अन्न भी बद करे, तो उसकी आज्ञा का पालन करते हो और उसकी आज्ञा के पालने से अपने निरोग होने का विश्वास रखते हो, फिर भी निरोग होना पूर्ण निश्चित्त नही, तब भव-रोग को नष्ट करने के लिए

भगवान् की आज्ञा तो निश्चय ही मुक्त करने वाली है, उसका पालन करने मे बेपरवाही करे, तो भव-रोग कैसे मिटेगा ?

जो भगवान् की आज्ञा का निष्ठापूर्वक पालन करेगा, वह अधिक से अधिक १५ भव मे तो मुक्त हो ही जायगा। श्रावक-व्रतो का ठीक तरह से पालन करने वाला भी १५ भव से अधिक नही करता। वह किसी भव मे सर्वविरत होकर मुक्त हो जाता है। इसलिए सम्यक्त्व युक्त देशव्रत और सर्वव्रत धारण करके आराधक बनने का प्रयत्न करना, देशविरत को सर्वविरत बनने की रुचि जगा कर आत्महित मे प्रवृत्त होना आवश्यक है। इसीसे आत्मा, परमात्म पद को प्राप्त कर सकती है। अतएव विरति रूप धर्म को श्रद्धा एव रुचिपूर्वक पालन करने मे साव-धान रहना चाहिए।



मेरा वक्तव्य

विरति ही सम्यक्त्व को स्थायी बना कर आत्मा को उत्थान के मार्ग पर गति करवाती है। विरति रहित सम्यक्त्व सागरोपम जैसे लम्बे काल तक रहे, परन्तु अत मे पतन होकर मिथ्यात्व मे जाना पडता है। सम्यक्त्व तो केवल सन्मार्ग दर्शक है। मार्ग को जानने–श्रद्धा करने मात्र से स्वस्थान पर पहुँचा नही जाता। जबतक चारित्ररूपी चरण उस मार्ग पर नही बढे, तबतक सुखद स्थान की प्राप्ति नही हो सकती। सम्यक्त्व के सद्भाव मे १७ पाप-स्थान खुले रहते हैं। उन सत्रह पाप-द्वारों

की रोक, सम्यक्-विरति से ही होती है। बिना विरति के सम्यक्त्वी भी आचरण की अपेक्षा 'बाल' रहता है। गुणस्थानो की वृद्धि भी विरति से ही होती है। बिना विरति के सम्यक्त्वी जीव, केवल चौथे गुणस्थान मे ही रहते हैं। चौथे से आगे बढ-कर चौदहवे गुणस्थान तक पहुँचना विरति से ही होता है। प्रथम गुणस्थान से चौथे गुणस्थान मे पहुँचने मे भवितव्यता अकामनिर्जरादि मुख्य रहते हैं, किन्तु चौथे से आगे बढने के लिये पुरुषार्थ की मुख्यता रहती है।

पूज्यता का सम्बन्ध भी विरति से है। सर्वविरति आत्मा ही पच परमेष्टि मे स्थान पा सकती है। वही मगलमय एव शरणभूत होती है। बिना विरति के पूज्यता प्राप्त नही हो सकती।

विरति आत्मा की भटकन रोक कर अपने-आप मे स्थिर करती है। लोक मे सुदूर भटकती हुई मानसिक दौड, असीम आशा, तृष्णा, आरम्भ एव परिग्रहपूर्ण सकल्प-विकल्प तथा मन वचन काया की असीम प्रवृत्ति, विरति से सीमित हो जाती है। उसकी भाग-दौड, चञ्चलता, चपलता एव उद्वेग कम हो जाते हैं। आत्मा एक सीमा मे आ जाती है और होते-होते स्थिर हो कर पूर्ण शाति को प्राप्त कर लेती है। यही विरति का कार्य है। विरति केवल शारीरिक या वाचिक प्रवृत्ति ही नही रोकती, वह मानसिक अशुभ सकल्प-विकल्प को भी रोकती है। आत्म स्थिरता एव पूर्णत्व की प्राप्ति मे विरति—त्रिविध विरति—(संवर) ही योग्य उपाय है। दशो दिशाओ मे भटकती हुई वृत्तियाँ ही जीव को अनन्त ससार मे भटकाती, रुलाती और

जन्मरणादि दु खो से दु खित करती रहती है। विरति, आत्मा की उस दु.ख-परम्परा वर्द्धक प्रवृत्ति को रोक कर धीमी करती है, सीमित करती है और अन्त मे सभी प्रवृत्तियो को रोक कर आत्मा को स्थिर, शान्त एव आनन्दमय कर देती है। फिर आत्मा मे—अपने-आप मे रहे हुए आनन्द के अमृत-रस का झरना फूट पडता है और परम सुख का सागर बन जाता है। आत्मा स्वय आनन्दमय हो जाती है।

आत्मा का स्थायी निवास या तो मिथ्यात्व मे होता है या मोक्ष मे—मोह मे या मोक्ष मे। इनके सिवाय अन्य कही भी स्थायी निवास नही होता। मिथ्यात्व छोडने के बाद, अपतित अवस्था मे, उत्कृष्ट संसार काल साधिक ६६ सागरोपम से अधिक नही, और वह भी देव और मानव भव के सासारिक सुख युक्त। यदि पतित हो जाय, तो देशोन अर्द्ध पुद्गल परावर्तन रूप अनन्त-काल, अनन्त जन्म-मरण युक्त। विरति जीव को संसार मे अधिक नही रहने देती।

सगठित शक्ति—एकत्रित किया हुआ बल, बडे बडे साहस के कार्य कर के सफल हो सकता है। वही शक्ति यदि बिखरी हुई हो—असगठित हो, तो साधारण कार्य भी नही हो सकता। अविरत आत्मा की शक्ति बिखरी हुई होती है और इधर उधर भटकती रहती है। उसकी भटकन समाप्त नही होती। विरत आत्मा की शक्ति सगठित—एकत्रित होती है। उसकी भटकन भी कम होती जाती है और अन्त मे केन्द्रीभूत हो जाती है। मानसिक, वाचिक और देहिक सभी प्रकार की

अशुभ प्रवृत्तियो से आत्मा को विरत कर—खीचकर अपने-आप मे स्थिर करना ही विरति की चरम साधना है। जब यह साधना पूर्ण होती है, तो आत्मा के वज्र से कठोर बन्धन भी नष्ट हो जाते है और आत्मा मनुष्य रूप मे भी परमात्मा बन जाती है।

आजकल के कुछ भवाभिनन्दी जीव, विरति को बन्धन मानने लगे हैं। वास्तव मे अनन्तानुबन्धी मोह के जोर से जिनकी बुद्धि ही मोहग्रस्त हो गई, उन्हे त्याग, विरति एव सवर, बन्धन रूप लगते है और इस बन्धन को वे हथकडी-बेडी तथा फन्दे के समान दुखदायक मानते हैं। वे विरति को रक्षा कवच के समान प्राण-रक्षक नही मानते। उनके ऐसे विकृत विचारो से आपको बचना चाहिए। यो तो वे भी शरीर के लिए दुखकारी ऐसे कुपथ्य या विष से बचते रहते है। वैद्य के आदेश पर लघन करके निराहार रहते है और ढोरो की तरह घास-फूस तथा वैसी घृणित वस्तु नही खाते, उससे बचे रहते हैं। किन्तु उनका यह बचे रहना केवल शारीरिक दृष्टि से है, आत्म-रक्षार्थ नही। आत्म-रक्षार्थ विरति को वे बन्धन मानकर विरोध करते है। वे धर्म से दूर—अति दूर हैं।

रोगी को आरोग्य लाभ, दो प्रकार के उपचार से होता है। एक तो रोगवृद्धि के कारणो को रोकना और दूसरा रोग के मूल को समाप्त करना। आत्मशुद्धि मे भी ये दोनो उपाय काम मे आते है। पहला संवर—विरति को धारण कर के बढते हुए कर्म-रोग को रोकना और दूसरा निर्जरा—तपाचरण से कर्म-मल को नष्ट करना।

यो तो विरति का न्यूनाधिक स्वीकार, सभी आस्तिक मतो ने किया है, किन्तु निर्दोष एव विशुद्ध विरति का जो स्वरूप जिनागमो मे है, वह अपूर्व, अद्वितीय एवं विशुद्ध है। उसमे न तो सावद्यता का अश है और न कोई किसी प्रकार का दोष है। अन्यत्र देखने पर किसी भी परम्परा मे विरति का ऐसा निर्दोष विधान दिखाई नही देगा। यदि निष्पक्ष दृष्टि से हम जैनधर्म की विभिन्न शाखाओ की साधना को देखेंगे, तो सावद्यता का दोष, अन्य शाखाओ मे स्पष्ट दिखाई देगा। एक मात्र हमारी अपनी परम्परा ही ऐसी है जो मौलिकता के अति निकट है और जिसने साधना की निर्दोषता को स्वीकार किया है। हमारी देवाराधना, गुरु सेवा और धर्माचरण मे रत्तिभर भी आरम्भ-समारभ नही है। जैनधर्म के मौलिक विधि-विधानो मे सावद्यता के अश को निर्दोष नही माना है। किन्तु फिर भी हमे यह तो मानना ही पडेगा कि हमारी पवित्र परम्परा मे भी अब ऐसे कई दोष घुस गए हैं—जो कुछ वर्षों पूर्व नही थे।

कुछ समय हुआ एक दु साहसी व्यक्ति ने एक ऐसा सयम-विघातक ग्रन्थ का मुद्रण करवा कर प्रकाशन करवाया है कि—जिसमें सभी प्रकार की अविरति एवं सभी पापो को 'कल्पनीय अपवाद' के नाम से निर्दोष बतला दिया। ग्रन्थकार स्वय इस ग्रन्थ को दबाये रखना चाहते थे और सैकडो वर्षों तक यह दबा भी रहा। उस परम्परा के किसी भी व्यक्ति ने इसका जाहिर प्रकाशन नही करवाया। किन्तु इस अधम काल की विद्रोही वृत्ति एवं साधुता के भेष मे छिपी हुई धर्म-विघातक

आत्मा ने उस ग्रन्थ को उजागर कर दिया। उस ग्रन्थ का प्रचार आज वीर शासन के विरति धर्म को ही खोखला किये जा रहा है। हमे ऐसे धर्म नाशक विचारो से अपने-आपको बचाये रखना है।

कुछ लोग विरति को बन्धन मानते हैं, उसी प्रकार कुछ तप को भी 'आत्म-हिंसा' कहते हैं। कोई कहता है—'तप आत्मा-रूपी देव के तनरूपी मन्दिर को क्षत-विक्षत करने के समान महापाप है।' वास्तव मे एसे लोग कुतर्की, मिथ्यावादी एव अज्ञानी हैं। वे अपने मिथ्यात्व को तर्क के तरकश पर चढा कर दूसरो की श्रद्धारूपी शक्ति को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उनकी दृष्टि ऐसे कुतर्कों पर ही पहुँचती है। वे यह नहीं सोचते कि–जो देव, अपने देह रूपी देहरे को जेल–बन्दीगृह मानता हो और उसे छोड़कर शाश्वत स्थान प्राप्त करना चाहता हो, उसे रोकने वाले तुम कौन होते हो ? तपस्वी, किसी दूसरे की देह को कृश नही करता। वह अपनी ही देह की जीर्णशीर्ण सामग्री से, नूतन भव्य प्रासाद का निर्माण कर रहा है। फिर तुम अपने भौडे तर्क से उसके दीर्घकालीन अनुपम निर्माण मे बाधक बनने के पापी क्यो बनते हो ?

फिर अतिवाद और निरतिवाद का झूठा अडगा लगा-कर तथा जैनधर्म को 'मध्यममार्गी' बताकर भी इसकी उत्तमता को नष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। मिथ्यात्व एव अविरति-प्रिय कोई व्यक्ति, विना लगाम के घाडे की तरह उन्मार्ग मे भटके, तो वह अपना ही विगाड़ करता है। ऐसे मिथ्या-वादी वेशधारी, समाज एव संस्कृति का बहुत विगाड़ करते हैं।

उस स्वच्छन्द व्यक्ति से कोई पूछे तो सही कि–"तुम जैनधर्म को किस आधार से मध्यम-मार्ग कहते हो ? तुम्हारे पास क्या आधार है ? यदि जैनधर्म को मध्यम-मार्ग मानते हो, तो उत्तम-मार्ग कोई अजैन धर्म होगा ? उत्तम की अपेक्षा ही तो मध्यम दर्जा होता है। बताओ, तुम्हारी दृष्टि मे वह उत्तम धर्म, किस अजैन परम्परा मे है ?" निराधार एव मन.कल्पित प्रलाप करने वाले मिथ्याभाषियो पर कभी विश्वास नही करना चाहिए और अपने सर्वोत्तम–परमोत्तम जिनधर्म की सवर साधना मे यथाशक्ति प्रवृत्ति करनी-करानी चाहिए।

(सातवा दिन २१-६-६७)

श्री प्रकाश मुनिजी म. का व्याख्यान

जिस चारित्र रूपी धर्मयान पर चढकर अनन्त जीव संसार-समुद्र को पार कर परमात्मा बन चुके, वर्तमान मे संख्यात जीव परमात्मा बन रहे हैं और भविष्य मे अनन्ता बनेंगे, उस चारित्र का आधार सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के आधार पर ही चारित्र वास्तविक फल देता है। चारित्र मे सम्यक्त्व की नियमा है और सम्यक्त्य मे चारित्र की भजना है। सम्यक्त्व गणित के प्रथम अक '१' के समान है। इसी १ के अंक पर चारित्र, शून्य ० का काम कर एकाई से दहाई, सैकडा, हजार, लाख आदि अधिकाधिक महत्व प्राप्त कर उन्नत हो सकता है। बिना सम्यक्त्व रूपी एकाई के चारित्र, शून्यवत्–व्यर्थसा रह जाता है–

'णत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं,' उससे मुक्ति रूपी फल, कुछ भी नही मिलता। बिना सम्यक्त्व के चारित्ररूपी यान, बिना दिशाज्ञान के समुद्र मे भटकते हुए जहाज के समान है। असम्यग्दृष्टि का उच्च चारित्र भी संसार-परिभ्रमण का ही कारण है। देवगति मिलने के बाद फिर वही भटकन चलती रहती है। सम्यग्दृष्टि का चारित्र, कुतुबनुमा के समान ठीक दिशा मे गति कराने वाला होता है।

समुद्र यात्रा मे जलयान भी सुदृढ तथा बिना छिद्र वाला हो, सभी दोषो से रहित और सभी साधनो से युक्त हो, तभी बिना विघ्न बाधा के पार पहुँचा जा सकता है। शिथिल तथा छिद्र वाला जहाज, बीच मे ही नष्ट हो जाता है-डूब जाता है और यात्रियो को भी डुबा देता है। जिस विरति-चारित्र रूपी यान मे दोष रूपी छिद्र पड गये हो, जो शिथिल हो, वह संसार-रूपी समुद्र मे उठते हुए झंझावात और विघ्न-बाधाओ को सहन नही कर सकेगा। वह स्वय नष्ट-भ्रष्ट होकर डूब जायगा और यात्रियो को भी ले डूबेगा।

चारित्र प्राप्ति के बाद, दोष रूपी टक्करो और उनसे होने वाले छिद्रो से बचाये रखना अत्यत आवश्यक है। इतना ही नही, चारित्ररूपी यान को अत्यत दृढ बनाने के लिए विशेष गुणो को उत्पन्न करना आवश्यक है, तभी सैकडा पर एक बिन्दी विशेष चढकर सहस्र एव लक्ष आदि उत्तरोत्तर मूल्य बढेगा। जिस प्रकार चोर-डाकुओ से बचाने के लिए लोग, अपने धन को बड़ी सुरक्षापूर्वक रखते हैं और अविश्वस्त मनुष्यो की दृष्टि

मे ही नही आने देते, उसी प्रकार चारित्र रूपी रत्न को भी सासारिक मोह-ममता, विषय-कषाय और उनके विशेष पात्र मनुष्यो से बचाकर रखा जाय, तो वह अवश्य ही पार पहुँचाएगा।

जिनागमो मे चारित्र को भी 'विनय' विशेषण लगाकर चारित्रात्मा को 'चारित्र विनीत' बतलाया है। चारित्र का अर्थ है—जो आत्मिक दोषो को दूर करे, कर्म रूपी मैल को निकाल कर आत्मा को शुद्ध बनावे—"**एयं चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहिय**"—आत्मा को कर्मों से रिक्त—खाली करे, उसे भगवान् ने चारित्र कहा है। चारित्र-विनीत भी वही है कि जो विषय-कषाय एव कर्म बन्धन से दूर रहे। चारित्र (तपयुक्त चारित्र) नवीन कर्मों का आना रोक देता है और पूर्व के लगे हुए कर्मों को नष्ट करता है। सग्रहित कर्मों को नष्ट करना चारित्र का कार्य है।

जिस प्रकार धान्य से भरी हुई कोठी मे से प्रतिदिन पांच सेर धान्य निकलता रहे और उसमे डाला जाय बहुत कम—पाव-आधसेर ही, तो वह कितने दिन भरी रह सकती है? ऐसी कोठी बहुत शीघ्र खाली हो जाती है। इसी प्रकार चारित्र से होती हुई शुद्धि से कर्म-मैल अधिक मात्रा में नष्ट होता रहे और सज्वलन कषायादि से यत्किञ्चित् बन्ध हो, तो भी वह टिकेगा कबतक? एक दिन ऐसा भी अवश्य आता है कि वह आत्मा पूर्ण रूप से शुद्ध, पवित्र, अयोगी, अकर्मी एव अशरीरी—सिद्ध बन जाती है।

भगवान् ने चार प्रकार के घट बतलाये हैं। यथा—

१ टूटकर टुकड़े-टुकडे हुआ घडा, २ जर्जर बना हुआ, ३ छेद वाला—जिसमे से पानी टपकता है और ४ अपरिश्रावी—जिसमे भरा हुआ पानी सुरक्षित रहता है, निकलता नही। पहले घडे मे तो पानी भरा ही नही जा सकता। दूसरा जर्जर घडा जल धारण करने के योग्य नही, क्योकि वह जर्जर है, टूट फूट जाने वाला है। तीसरे घडे मे पानी भरा तो जा सकता है, परन्तु वह चिरकाल टिक नही सकता, धीरे-धीरे बह कर सारा पानी निकल जाता है। एक मात्र चौथा घट ही ऐसा है कि जिसमे भरा हुआ पानी सुरक्षित रहता है। घडो के समान जलयान भी चार प्रकार के होते हैं।

उपरोक्त उदाहरण देते हुए स्थानागसूत्र मे कहा है— "**एवामेव चउविहे चरित्ते पण्णत्ते**"—इसी प्रकार चारित्र भी चार प्रकार का कहा है।

१ जो चारित्र, पाप एवं अनाचार के सेवन से नष्ट-भ्रष्ट हो चुका, उसमे मूल-गुण और उत्तर-गुण रूपी अमृत के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है ? टूट फूट कर टुकड़े-टुकडे बना जहाज तो डुबाता है, तिराता नही। ऐसे नष्ट-भ्रष्ट एव खण्डित चारित्र को छोड कर नया चारित्र—नई प्रव्रज्या लेनी चाहिये, जिसमे दृढता हो, अखण्डता हो और गुणवृद्धि होती हो।

प्रश्न हो सकता है कि वर्षों का लिया हुआ चारित्र एकदम नष्ट कैसे हो सकता है ? उत्तर है कि बूंद बूंद करके बहुत लम्बे समय मे भरा हुआ घडा, ओधा करने पर या ठेस लगने पर टूटने से तत्काल खाली हो जाता है, उसी प्रकार

सैकडो वर्षों का पाला हुआ संयम भी, कषाय की आग मे तुरंत भस्म हो जाता है।

२ जो जर्जरित बना हुआ घट है, वह आकार मात्र से घडा है, परन्तु है शक्ति-हीन—खोखला मात्र, जल भरने के अयोग्य। यदि उसमे जल भरा जाय तो उसकी दशा प्रथम घट जैसी होकर टूट-फूट जाय। इस प्रकार का यान भी डुबाने वाला होता है। उसी प्रकार वेश या आकृतिमात्र का सयम या भावना शून्य द्रव्य-क्रिया मे चारित्र कैसे हो सकता है? यदि कोई क्रियारूप से मूलगुणो का घात नही करता, तो भी बिना उत्तर-गुण एव भाव युक्त चारित्र के गुणवृद्धि नही होती। ऐसी शक्ति-रहित दशा भी चारित्र विनाशक होती है। वह प्रमादी जीव, सयम पर्यायो का संचय, रक्षण एव संवर्द्धन करने मे असमर्थ होता है। ऐसा द्रव्य-चारित्र निमित्त मात्र से, जर्जर घडे के समान नष्ट हो जाता है। ऐसा व्यक्ति बिना ही वैराग्य (योग्यता) के किसी भौतिक आकर्षण या अन्य दबाव आदि से या साधारण निमित्त से साधु हो जाता है, परन्तु वह चारित्र का पात्र नही होता, वरन् पतित होकर मिथ्यात्व मे चला जाता है।

३ जिस प्रकार छिद्र युक्त पात्र मे से पानी टपक कर निकलता रहता है, उसी प्रकार चारित्र मे असावधानी रखने से दु चिन्तनादि द्वारा स्खलना होती रहे, तो चारित्र मे क्षति होती जाती है और धीरे-धीरे चारित्र मे गिरावट आते-आते अन्त मे असयम की प्राप्ति हो जाती है। प्रमाद का वेग बढते

रहने पर अन्त मे मिथ्यात्व दशा मे स्थान हो जाता है और अनन्त ससार परिभ्रमण का चक्र चलने लगता है।

४ चाहे साधु हो या श्रावक, सर्वविरत हो या देशविरत, अपने-अपने व्रत मे सावधान रहकर चारित्र को सुरक्षित रखने और गुणवृद्धि करने वाले साधक, चौथे अपरिस्रावी घट के समान हैं, जिसमे भरा हुआ चारित्र रूपी अमृत सुरक्षित रहता है। वह उस सुदृढ एव छिद्र रहित जलयान के समान है, जिसमे यात्रा करने वाला सुखपूर्वक पार पहुँच जाता है।

चारित्र मे सावधानी रखने वाले, जागृत रहकर गुणवृद्धि करते रहे, तो दोष दूर रहते हैं और चारित्र सुरक्षित होकर दृढी-भूत हो जाता है। उसी प्रकार तीसरे छिद्रवाले यान का छिद्र बन्द कर देने मे वह भी अपरिस्रावी हो जाता है। चारित्ररूपी यान के निन्दा-विकथा आदि छिद्र बन्द करने पर जहाज भी निरापद रहकर पार पहुँचा देता है। इस प्रकार का विशुद्ध एव उन्नत चारित्र, यथाख्यात चारित्र प्राप्त करवाता है और परम वीतराग दशा प्राप्त करवाकर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तथा सिद्ध बना देता है। अतएव सावधानी पूर्वक अपने चारित्र रूपी वस्त्र को सुरक्षित रखते हुए आगे बढाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। यदि विकट प्रसंग उपस्थित हो जाय, मृत्यु जैसी भयकरतम स्थिति बनजाय, तो भी अपने चारित्र को नही छोड कर, जो डटे रहते हैं, अखण्डित रखते हैं, वे महापुरुष उस अपरिस्रावी चारित्र-यान द्वारा ससार समुद्र तिर जाते है।

सत्य मार्ग जान लेने पर, ग्रहण करने मे विलम्ब नही

होना चाहिए और यथाशक्ति आगे बढते रहना चाहिए। कषाय के सूक्ष्म अंश से भी सर्वथा रहित ऐसा यथाख्यात वीतराग चारित्र प्राप्त होने पर, फिर उसकी रक्षा करने की आवश्यकता ही नही रहती। वह तो अपने आप ही सुरक्षित बन जाता है।

मति,श्रुत और अवधिज्ञान तो ससारी जीवो को भी हो जाता है, किन्तु मन:पर्यवज्ञान बिना चारित्र आराधना के नही होता। यह ज्ञान अप्रमत्त एवं उत्तम सत्वशील महान् संतो को ही होता है और केवलज्ञान तो यथाख्यात चारित्र के बिना हो ही नही सकता। अवधि, मन·पर्यव एव केवलज्ञान की पढाई नही होती। अवधिज्ञान, दर्शनविशुद्धि तथा ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से, नारक और देवो को भव से ही और किन्ही भाग्यशाली मनुष्य तिर्यञ्चो को हो सकता है। यद्यपि श्रुतज्ञान पढने से होता है, फिर भी उपादान मे ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम अवश्य रहता है और वह क्षयोपशम भी चिन्तन मननादि चारित्र से सम्बन्धित रहता है। अवधिज्ञान इसमे विशेष और मन·पर्यव तो चारित्र सम्पन्नो मे से ही किसी को होता है, तथा केवलज्ञान तो उन्ही महानतम आत्माओ को होता है–जो क्षीणकषायी यथाख्यात चारित्री हो। बिना चारित्र के मन.पर्यव होता ही नही और रहता भी नही। यदि होने के बाद मुक्ति नही हुई, तो यह ज्ञान भी लुप्त हो जाता है और केवलज्ञान तो मुक्त ही करवाता है।

चारित्र की महिमा अपरम्पार है–सम्यक् चारित्र की।

ज्ञान की कमी चल सकती है। भगवती सूत्र मे उल्लेख है कि कम से कम आठ प्रवचनमाता का ज्ञानवाला भी चारित्र

की आराधना करके घातिकर्मों का क्षय कर सकता है और केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार ज्ञान से भी चारित्र का महत्त्व बढ जाता है। हमे उन्ही महापुरुषो की सेवा करना है जो छिद्रवाले चारित्र रूपी यान को भी अपरिस्रावी बनाने मे सहयोग प्रदान करते हैं।



पूज्य श्रमणश्रेष्ठ का प्रवचन

वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् ने संसार के भवप्रपञ्च, जन्म-मरण, रोग शोक और आधि, व्याधि, उपाधि से मुक्त होकर, परमसुख-मय परमात्मपद प्राप्ति का मार्ग बतलाया है— विरति। सम्यक् विरति स्वत. मुक्ति साधना है। विरति की साधना ज्यो-ज्यो विशुद्ध होती जायगी, त्यो-त्यो क्रमश' आत्मा मुक्त होती जायगी।

संसार मे अनन्त आत्माएँ ऐसी हैं कि जिनमे विरति साधने की योग्यता ही नही होती। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय मे तो धर्म को सुनने-समझने की शक्ति ही नही होती। यद्यपि असंज्ञी पचेद्रिय के श्रवणेन्द्रिय होती है, वे सुनते भी है, किन्तु मन के अभाव मे वे न तो समझते हैं और न चिन्तन-मनन कर सकते हैं। ये सब असज्ञी जीव हैं। सज्ञी जीवो मे भी नारक और देव तथा अकर्मभूमि और अन्तर्द्वीप के

मनुष्य, विरतिधर्म के लिये अयोग्य हैं। तिर्यञ्चो मे कोई जीव देश-विरत हो सकते हैं, सर्वविरत तो केवल कर्मभूमि के गर्भज मनुष्य ही हो सकते हैं। इनके सिवाय किसी भी गति के जीव सर्व-विरत नही हो सकते। अन्य गतियो के जीव मनुष्य होकर ही सर्वविरत हो सकते हैं।

देशविरत और सर्वविरत होने के लिए सबसे पहले विचारशुद्धि होना अनिवार्य है। बिना विचार-शुद्धि का मानस, विरति के योग्य नही होता। अज्ञानभाव छोडकर ज्ञानभाव में आने पर ही विरति की सभावना हो सकती है। कहा है कि—

"जं अन्नाणी कम्मं खवेइ, बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उस्सासमित्तेणं ॥१॥

—जिन कर्मों को अज्ञानी जीव, करोड़ो वर्षों मे क्षय करता है, उन्हे तीन गुप्ति का धारक ज्ञानी, एक उच्छ्वास मात्र मे समाप्त कर सकता है।

यदि किसी को सन्देह हो कि यह कैसे हो सकता है? अज्ञानी और ज्ञानी के कर्मक्षय मे इतनी विषमता क्यो है? समाधान है कि मुख्य अन्तर, ज्ञान और विरति के अभाव का है। अज्ञानी और ज्ञानी का अन्तर साधरण नही है। मार्ग का अनजान अज्ञानी, उन्मार्ग पर कितना ही दोड़े, उसका श्रम कष्ट-कर होगा। वह गमन-क्रिया जोरदार करता हुआ भी अपने निश्चित्त स्थान से दूर ही होता जायगा, जब कि मार्ग जानने वाले ज्ञानी का उग्र प्रयास, शीघ्रतापूर्वक ध्येय के निकट पहुँचाएगा। लोक-व्यवहार मे भी यह अन्तर देखा जाता है। एक

मजदूर, कठिन श्रम करने पर भी वडी कठिनाई से अपने और कुटुम्ब के खाने का अन्न जुटा पाता है, किन्तु एक वकील-बैरिस्टर, एक दिन के लाख रुपये तक प्राप्त कर लेता है और वह भी सम्मानपूर्वक। मैने सुना था कि बगाल का सी. आर दास एक उच्च कोटि का वकील था। इगलेड का, किसी अन्य राष्ट्र से कोई विवाद उठखडा हुआ। इगलेंड उसमे दबा हुआ था। सी. आर दास की सलाह मांगी गई। उसने फाइले देख कर राय देने के ही दो या तीन लाख रुपये लिये।

— वकीलो को एक-एक पेशी के हजारो रुपये दिये जाते हैं। वे सिवाय बुद्धि लडाने के किसी प्रकार का श्रम नही करते। कानूनी पुस्तके भी नोकर उठाता है। मुकद्दमा लडने वाले अपनी ओर से लडने के लिए हजारो रुपये भी देते हैं और सम्मान भी करते हैं। उन्हे रुपया मिलता है—सूझबूझ का। कोई कानूनी पकड से भयभीत होकर, उससे मुक्त होने के लिए वकील की सहायता चाहता है। किसी पर मनुष्य-हत्या का आरोप है और उसे मृत्यदण्ड का भय है। वह भयमुक्त होने के लिए, अपना सर्वस्व देने को भी तत्पर हो जाता है। लाखो करोडो के लेन-देन, रियासत और जमीदारी आदि के मामले मे योग्य वकीलो को हजारो-लाखो रुपये मिलते हैं। ऐसा ही अन्तर अज्ञानी और ज्ञानी को होने वाले फल मे है। अज्ञानी उलटे कार्य करके बँध जाता है, तब ज्ञानी सम्यक् पुरुपार्थ से मुक्त हो जाता है।

एक उदाहरण है। चार भागीदारो की पेढ़ी पर कपास

का व्यापार होता था। उन्होने चूहो से बचने के लिए एक सुन्दर बिल्ली पाल रखी थी और चारो ने बिल्ली की देखरेख तथा सेवा करने के लिए उसके शरीर का, चार पैरो के भेद से कल्पित विभाजन कर लिया था। ऊँचे से कूदने के कारण बिल्ली के एक पांव में चोट आई। वह लगडी हो गई। जिस भागीदार के हिस्से मे वह पांव आया था, उसने उसके दवाई लगा कर पट्टी बांध दी। शर्दी के दिन थे, कमरा गरम करने के लिए सिगडी सुलगाई गई थी। बिल्ली भी सिगडी के पास बैठ गई। अचानक बिल्ली के पांव मे बन्धी हुई कपडे की पट्टी सुलग गई। पांव जलने से बिल्ली भागी और कपास के ढेर मे चली गई। कपास का ढेर और रुई के बोरे जल गए। भारी हानि हुई। भागीदारो का हृदय बैठ गया। उन्होने सोचा;–

–'चौथमल के हिस्से की टांग मे आग लगी और उसी टाग ने कपास और रुई जला कर हमे हानि पहुँचाई। इसलिए इस हानि को अकेला चौथमल भुगते। हम व्यर्थ ही इस बडे आघात को क्यो सहन करे।' उन तीन भागीदारो ने चतुर्थ पर मुक्द्दमा चलाया। चतुर्थ के वकील ने कहा–"मेरे पक्षकार की टांग तो चलने योग्य थी ही नहीं। घायल अंग की सेवा करने का और आराम पहुँचाने का कार्य मेरे पक्षकार ने किया था, किन्तु इन तीनो वादियो की टांगो के कुकृत्य ने बिल्ली को भगाई और आग लग कर हानि हुई। वास्तव मे इस हानि का उत्तरदायित्व इन तीनो भागीदारो पर है। इन्हे मेरे पक्षकार की हानि की पूर्ति और कोर्ट-खर्च अदा करना चाहिए। दावेदारो

को लेने के देने पडगए । यह है ज्ञानी और अज्ञानी की क्रियाओ के अनुकूल प्रतिकूल फल का उदाहरण ।

सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र का फल मुक्ति है । चारित्र-(विरति)के दो भेद है-देश और सर्व, अथवा अणुव्रत और महाव्रत । चारित्र का पालन आत्मदृढता हो तभी हो सकता है, अन्यथा असभव है । आनन्दघनजी ने कहा है कि-

"धार तलवार नी सोहली,
दोहली चौदमा जिन तणी चरण सेवा ।
धार पर नाचता देख बाजीगरा,
सेव नी धारपर रहे न देवा ।"

जिनेश्वर की चरण सेवा-चरण=चारित्र पालन करना कठिन है, तलवार की धार से भी कठिन है । विषयो से विरक्त होकर, परीषहो को सहते हुए चरण सेवा करना विघ्न-बाधाओ की उपेक्षा करते हुए चरण सेवामे अपने चरण आगे बढाते रहना, कितना कठिन है । यह श्री नमिराजर्षि के शब्दो मे सुनिये,-

"जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ" ॥३४॥

अनुकूल सयोग प्राप्त होने पर प्रसन्न नही होना, प्रतिकूल सयोगो पर अप्रसन्न नही होना, इस प्रकार राग-द्वेष अथवा रति अरति भाव नही लाकर, भाव चारित्र का पालन करना दुष्कर है । यह तभी हो सकता है-जबकि चारित्र के प्रति अनन्य रुचि हो, दृढ भावना हो । ऐसी आत्मा के लिए चारित्र सरल

हो जाता है। अन्यथा बात-बात मे असयम भाव आ जाता है। जैसे—'यह स्थान कितना गन्दा है, यहा के श्रावक मूर्ख लगते हैं। यदि समझदार और लगनवाले होते, तो इस स्थान को साफ स्वच्छ नही रखते ? हवा आने के लिए कोई खिडकी या द्वार भी नही है इसमे। अमुक नगर मे कितना भव्य और सुखद स्थान है ? यहा की स्त्रियें भी फुहड लगती है। भोजन बनाने का ढंग ही नही है—इनमे। भैंस के बांटे जैसा खाना कैसे खावे ?' इत्यादि विचार, विरति—चारित्र साधक के नही हो सकते। ऐसे असयमी विचारो से चारित्र-रत्न टिक नही सकता। जिनका सोचना असंयमी, बोलना असंयमी और करना असयमी, वह वेश से भले ही सर्वविरत लगे, भाव से तो असयमी है।

पुण्य योग से बिना सोचे और बिना कहे अनुकूल सामग्री प्राप्त हो जाय और सोचे कि—'चलो, अच्छा हुआ। मेरे बिना कहे ही काम बन गया और मैं पाप से भी बच गया, तो ऐसा सोचना भी विरति मे क्षति है। ऐसा सोच कर उस पाप का अनुमोदक बनना है।

"मैं पहले आया था, तब यह मार्ग कितना खराब था ? कांटे, कंकर, पत्थर आदि से चलना भी कठिन हो रहा था। अब तो यहा पक्की सडक बन गई यह अच्छा हुआ"—इस प्रकार सोचना भी उस सडक की निर्माण-क्रिया का अनुमोदक बनकर भाव-चारित्र को भग करना है।

यहाँ किसी के चारित्र पर टीका-टिप्पणी नही करना है। सम्यग् विरति की रीति बताई जा रही है। शास्त्रकारों ने जो

नियम बनाये, वे किसी को कष्ट देने के लिए नही किसी को हलका बताने के लिए नही, किन्तु भव्यात्माओ की मुक्ति के लिए विशुद्ध मार्ग बतलाया है। उन शास्त्रकारो का हम पर महान् उपकार है।

गृहस्थो और ससारियो के प्रपञ्च मे पड़ना, किसी के सगाई सम्बन्ध जुडाना, सामारिक कार्यों मे रुचि रखना—ये सब विरति के प्रतिकूल तथा असंयमी कार्य हैं। जब गृहस्थ था, तब अपने एक घर की चिन्ता थी, किन्तु घर छोड कर साधु बना, तो अपने यजमानो, भक्तो, श्रावको की चिन्ता मे पड गया। अपनी भक्त-मण्डली बढाने के प्रपञ्च मे पड कर अनेक घरो की चिन्ता करने लगा। यह मेरा श्रावक, दूसरे के पास क्यो जाने लगा। मेरे क्षेत्र मे दूसरे साधु क्यो आये? इस प्रकार की चिन्ता—"तेरे-मेरे मे फँस कर ससारी जैसा बन जाय, तो ऐसी असयमी भावना से आत्मा की मुक्ति नही हो सकती। एक घर के ममत्व को छोड कर अनेक घरो और क्षेत्रो का ममत्व अपनाना, ससार घटाना नही हुआ।

विरति की साधना, सावधानीपूर्वक होनी चाहिये। दोपो की उपेक्षा कदापि नही करनी चाहिये। एक छोटा-सा दोप भी चारित्र को नष्ट कर सकता है। आग की छोटी-सी चिनगारी या दियासलाई की एक काडी, घर, बाजार और गाँव तक को भस्म कर देती है। सयम का भार साधारण नही है। पाचो महाव्रत मेरु पर्वत के समान है।

एक नगर मे एक हमाल बड़ा शक्तिशाली था। ऐसी

भारी वजन की वस्तुएँ वह अकेला ही उठा कर पहुँचा देता था-जिन्हे दूसरे कई मनुष्य मिल कर भी नही उठा सकते थे। एक बार राजभवन मे कोई अत्यत भारी वस्तु उठा कर ऊपर की मंजिल पर पहुँचाने का काम था। नरेश के सामने समस्या थी, किन्तु उस शक्तिशाली भारवाहक ने वह कार्य सरलता से कर दिया। नरेश प्रभावित हुए। पारितोषिक देने के अतिरिक्त उस हमाल को 'अडिग रहने' का सम्मान दिया और कहा-' आज से तू अडिग माना गया। अब तेरे सामने कोई भी व्यक्ति टिक नहीं सकेगा'। तेरे मार्ग मे आनेवाले को टल कर ही निकलना होगा, तू किसी के सामने से टल कर नही निकलेगा, चाहे हमारी सवारी भी क्यो न हो। इस सम्मान का पूर्णरूप से निर्वाह करना।" एक बार एक मुनिराज, भिक्षा लेकर उसके सामने से आ रहे थे, उन्हे देखते ही वह मार्ग छोड कर अलग हट गया और नमस्कार किया। उसे मार्ग छोड कर हटते देख कर, उस पर द्वेष रखने वाले की बन आई। एक ने नरेश से जाकर कहा-"आपके बख्शे हुए सम्मान का भगतराम ने निर्वाह नही किया। वह इसके अयोग्य है।" भगतराम, नरेश के सम्मुख पेश हुआ। उसने कहा-"पृथ्वीनाथ ! मैं उन्ही के सामने झुका, जो मुझ से भी अधिक भार वहन किये हुए थे। जितना भार उन्होने उठाया, उतना मै नही उठा सकता। मै उनके सामने तुच्छ और कायर हूँ-महाराज ! उन महाभारवाहक का सम्मान करना आवश्यक था।" चुगलखोर बोला-"यह झूठा है। उनके पास केवल दो तीन पात्र ही थे।" भगतराम ने प्रार्थना की-

"स्वामिन् ! मै आज ही उनके महाभार का परिचय दूँगा।" थोडी देर बाद राजा को प्यास लगी, उसने सेवक से पानी माँगा। भगतरामने कहा—"देव ! वे महाभारवाहक सचित्त पानी नही पीते, आप भी यह पानी नही पियें, तब आपको उनके महाभार का अनुभव हो।" "अच्छा हम मोसम्बी या सतरे का रस पी लेगे।' नही, यह भी वे महाभारवाहक नही पीते।" इस प्रकार भगतराम हमाल ने मुनिराज के महाव्रतो के महाभार का परिचय देकर राजा का समाधान किया। तात्पर्य यह कि सयमरूपी महाभार का वहन करना सरल नही है। साधुता को सुरक्षित एव अखण्डित रखने पर ही आराधना सफल हो सकती है। इसमे त्रुटि नही चल सकती। लोग, छाछ को काम मे लेते हैं, किन्तु बिगडे दूध को फेंक देते है। श्रावक इच्छानुसार न्यूनाधिक व्रत ले सकता है, किन्तु साधु को तो पूरे पाँच महाव्रत पालने पडते है। इसमे कमी नही हो सकती। यह कहना गलत है कि—"बिगडा साधु, गृहस्थ से तो अच्छा है।" साधुता का पद बहुत ऊँचा है। यदि उसमे क्षति हो, तो वह फटे दूध के समान व्यर्थ एव छाछ से भी गिरा हुआ है। आगम मे कहा है कि—

"संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा"

(उत्तरा. अ. ५–२०)

—किन्ही साधुओ से गृहस्थ संयम मे उत्तम होते हैं। जिस आत्मा मे सयम की भावना नही, रुचि नही, वह आकृति मात्र का साधु, तो अखबारो मे छपे हुए घड़ी आदि के विज्ञापनो

जैसा महत्त्वहीन है । अखबारो मे घडी का चित्र यथातथ्य छपता है, किन्तु न तो लाग उसे महत्व देते हैं और न वह समय बताने मे कार्य-साधक है । इमी प्रकार वेशमात्र से साधु, दिखाई देने वाला भी महत्वहीन है । साधुपने मे थोडी-सी त्रुटि, भूल या उपेक्षा भी नही चल सकती । मनुष्य का पूरा शरीर और इन्द्रियाँ मौजूद होते हुए भी थोडा-सा श्वास नही हो, तो वह मुर्दा माना जाता है । इमी प्रकार भाव-सयम भी श्वास समान है । उसके अभाव मे द्रव्य-संयम और वेशभूषादि मुर्दा शरीर के समान व्यर्थ है ।

महाव्रत हो या अणुव्रत, इनका भावपूर्वक यथातथ्य पालन ही सफल होता है । आत्म-हित साधने वालो को विरति का निर्दोषतापूर्वक पालन कर, परम पद प्राप्त करना चाहिए ।

मेरा वक्तव्य

आप दो दिन से विरति धर्म का स्वरूप सुन रहे हैं । व्रत, महाव्रत, त्याग, प्रत्याख्यान और तपस्या, ये सभी विरति मे ही है और नव तत्त्व के संवर और निर्जरा तत्त्व के भेद हैं । विरति संवर है, और तप है निर्जरा । जैनधर्म की विरति, अन्य सभी परम्पराओ की विरति से उत्तम, अजोड़ और शुद्ध है, निर्दोष है । जिनोपदेशित विरति मे किसी प्रकार का दोष नही है । अहिंसा व्रत मे हिंसा का त्याग होता है । गृहस्थ, हिंसा का देशतः त्यागी है और साधु पूर्णत । श्रावक, त्रस जीवो की

हिंसा का त्याग करता है, सो भी कुछ आगार से। स्थावर जीवो की विराधना का गृहस्थ त्यागी नही होता, फिर भी वह विवेक-पूर्वक प्रवृत्ति करता है, जिससे स्थावर जीवो की निरर्थक विरा-धना से बचे। गृहस्थ, विरति मे रहते हुए भी स्थावर जीवो की विराधना करता है और अपराधी या पीड़ाकारी जीवो को दड देता है, वह भी हिंसा तो है ही। हिंसा कभी अहिंसा नही हो सकती, भले ही वह मर्यादित हो। और निरर्थक हिंसा तो व्रत के लिए भी बाधक बन जाती है, भले ही स्थावर जीवो की भी हो। निरर्थक स्थावर हिंसा मे अनुकम्पा भाव कहा रहता है? अनुकम्पा भाव तो अविरत-सम्यग्दृष्टि मे भी होता है, तब देश-विरत मे क्यो नही हो?

हिंसा का सर्वथा त्याग करना आवश्यक एवं उपादेय मानते हुए भी श्रावक प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सर्वथा त्याग नही कर सकता। उसे जीवन तथा कुटुम्ब-परिवारादि के पालन आदि कार्यों मे हिंसा करनी पडती है। फिर भी वह अनावश्यक हिंसा से बचने का विवेक रखता है।

जैनधर्म मे हिंसा के सर्वथा त्याग को महत्व दिया है, जिसका परिपालन स्वय जिनेश्वर भगवतो ने भी किया और अनगार भगवंतो ने भी। जिनधर्म सम्बन्धी आराधना, पूजा, वन्दना या सत्कारादि मे भी हिंसा के लिए अणमात्र भी स्थान नही रहा, न देव आराधना मे, न गुरु सेवा मे। शक्य हिंसा परिहार सर्वथा पाला गया है। अन्य संस्कृतियो मे ऐसा नही है। अन्य संस्कृति के त्यागी खान-पान-स्नानादि में स्थावर जीवो

की हिंसा से विरत नहीं होते। इसी प्रकार मृषावाद, अदत्ता-दान आदि पापो के विषय मे भी जिनधर्म की साधना सर्वोपरि है। औपपातिकसूत्र मे जिनधर्म की साधना को "**वयप्पहाणा, गुणप्पहाणा, करणप्पहाणा, चरणप्पहाणा, णिग्गह-प्पहाणा**—व्रतप्रधान, गुणप्रधान, करणप्रधान, चरणप्रधान और निग्रह प्रधान आदि विशेषण दिये हैं, यह ठीक ही है। इस उत्तम, विशुद्ध एव निर्दोष साधना की बराबरी कोई अन्य साधना नही कर सकता। श्रद्धा, प्ररूपणा और स्पर्शना की श्रेष्ठता के कारण जिनधर्म परमोत्तम है।

अन्य सस्कृतियाँ, धर्म के नाम पर हिंसा, मृषादि पाप को भी धर्म मानती हैं, किन्तु जैनदर्शन ऐसा नही मानता। सावद्य-निरवद्य का विवेक जिनधर्म की अपनी खास विशेषता है।

जैनदर्शन, सम्यग्ज्ञानपूर्वक पाले हुए चारित्र को ही विरति-संवरधर्म मे स्वीकार करता है। असम्यग्दृष्टि वाले अशुद्ध आत्म-क्षेत्र मे, विरतिरूपी धर्म बीज का वपन नही हो सकता। विवशता अथवा भौतिकदृष्टि से पाला-हुआ व्रत या किया हुआ तप, पुण्य बन्ध मे तो स्वीकार किया है, किन्तु विरति-रूपी संवर धर्म में नही माना।

जैन साधको की विरति आत्महितार्थ होती है। आत्म-शुद्धि की दृष्टिपूर्वक की हुई साधना ही सवर और निर्जरा की हेतु होती है और उसी से मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है। विरति का उद्देश्य है—मोह-नाश। आत्मा के साथ लगे हुए मोहनीय-

कर्म—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म को नष्ट करके वीतराग बनने के उद्देश्य से ही विरति धर्म का पालन हितकर होता है।

जैनधर्म, श्रमण-प्रधान धर्म है। श्रमण-प्रधान का अर्थ है—विरति की प्रधानता वाला धर्म। हजारो, लाखो, और करोडो देशविरत गृहस्थो से भी एक सर्वविरत श्रेष्ठ होता है। उस सर्व श्रेष्ठ श्रमण की प्रधानता वाले सघ को श्रमण-प्रधान सघ या 'श्रमणसघ' कहते हैं। इसमे गृहस्थ का अनुशासन, श्रमण पर नही चलता, अपितु श्रमण का अनुशासन श्रमणोपासक पर चलता है। परन्तु वह अनुशासन होना चाहिए धर्मानुकूल। जिनाज्ञा के विपरीत अनुशासन, सच्चे साधु का नही हो सकता। इस जमाने के कुछ लोग, अपना निर्णय—अधार्मिक निर्णय, श्रमणो पर लादने का प्रयत्न करते है, यह अधार्मिकता है।

जैन साधना निवृत्ति प्रधान है। चाहे देश हो या सर्व, इस साधना का मूल ध्येय निवृत्ति है। संसार सम्बन्धी सभी प्रकार की प्रवृत्तियो का त्याग करके, आत्मशुद्धि मे प्रवृत्त होने के लिए, साधक विरति धर्म स्वीकार करता है। जब वह देश-विरत होता है, तो संसार की बहुत सी सावद्य प्रवृत्तियो मे निवृत्त हो जाता है, सर्वविरत होने पर तो सभी सावद्य प्रवृत्तियो को त्याग देता है और केवल आत्मोत्थान मे प्रवृत्त होता है। अप्रमत्त-दशा मे वह विषय-कषायादि प्रमाद से हटता है, फिर शेष रही हुई कषाय से भी निवृत्त होकर वीतराग बन जाता है। इसके बाद रही हुई योग प्रवृत्ति से, जीवन के अंतिम मुहूर्त मे निवृत्त

होकर परमात्मा बन जाता है। यहा निवृत्ति परिपूर्ण हो जाती है और प्रवृत्ति सर्वथा समाप्त हो जाती है। प्रवृत्ति की समाप्ति ही विरति की परिपूर्णता है। परिपूर्ण निवृत्ति ही परमात्म-दशा है। इसके प्राप्त होने पर जन्म-मरण एव भव-परम्परा का विच्छेद हो जाता है। यही शाश्वत जीवन है। यही सिद्ध दशा है। इस दशा की प्राप्ति के लिये ही विरति स्वीकार की जाती है। ध्येय शुद्धि के साथ साधना होती रहे, तो सफलता अवश्य मिलती है।

मिथ्यात्व की निवृत्ति से प्रारभ हुई साधना, योग निवृत्ति मे परिपूर्ण होती है। इस प्रकार जिनेश्वर भगवंतो का धर्म निवृत्ति-प्रधान है। नन्दीसूत्र मे जिनधर्म को "**णिव्वुइ-पह-सासणय**"—निवृत्ति-पथ का शासक बतलाया है। कुछ आधुनिक विद्वान, जिनधर्म को प्रवृत्तिमार्गी कहते हैं, यह उनका अपना विचार है और असत्य है।

विरति—सवर निर्जरा, एक ऐसी साधना है—जो आत्मा की असीम-नि सीम पर-परिणति और इसमे उत्पन्न अनन्त ससार परिभ्रमण को काट कर, स्वपरिणति मे स्थापित करती है। देश-विरत श्रावक भी अपने व्रत को पालता हुआ, मर्यादित सीमा के बाहर की पर-परिणति को अधिकाश त्याग देता है। सर्व-विरत साधु, सभी प्रकार की अशुभ परिणति से विरत हो जाता है। अप्रमत्त मुनि की आत्मा मे, पर-परिणति नाम मात्र की रहती है और श्रेणी का आरोहण तो आत्म-परिणतियुक्त शुक्ल-ध्यान से होता है। अपने-आपमे स्थित आत्मा स्वत इतनी

प्रवल हो जाती है कि उसके कर्मावरण, मुहूर्त मात्र मे नष्ट-भ्रष्ट एवं छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और ज्ञान-सूर्य का प्रखर प्रकाश प्रकट हो जाता है। आत्मा का प्रदेश, केवलज्ञान की अनन्त प्रकाश-किरणो से युक्त, प्रकाशमय हो जाता है और वही आत्मा, परमात्मा वन जाती है। वास्तव मे विरति ही आत्मा को परमात्मा वनाती है। जैनधर्म के विरति धर्म मे मिथ्यात्व से लगा कर योग निवृत्ति तक की सम्पूर्ण साधना आ जाती है। विचारपूर्वक देखा जाय, तो यह आध्यात्मिक विज्ञान की अमोघ विधि है। पूर्ण श्रद्धा के साथ इसकी परिपालना करना ही जिन धर्म है।



अनेकान्त (निक्षेप)

(आठवा दिन २२-६-६७)

श्री प्रकाशमुनिजी म. सा. का व्याख्यान

ससार मे अनेक वाद चल रहे हैं। अनेक प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित है। वादी अपनी एकान्त दृष्टि से वस्तु को देखते हैं। इससे वे वस्तु के एक अश को देख सकते है। प्रत्येक वस्तु को समझने के लिए अनेकान्त दृष्टि चाहिए। जिनेश्वर भगवतो और उनकी परम्परा के जैनाचार्यों ने वस्तु

को विविध दृष्टियो, विभिन्न अपेक्षाओ से समझने के लिए अनेकान्तवाद का निरूपण किया है। अनेकान्तवाद के—नय, निक्षेप, प्रमाण और स्याद्वाद अग हैं। इन्हे समझने वाला वस्तु को विशेषरूप से समझ सकता है। इस समय मै निक्षेप के विषय मे कुछ कहूँगा। 'निक्षेप' का अर्थ है—नियत करना, स्थित करना, स्थान पर रखना। पदार्थ के सही स्वरूप को बताना ही निक्षेप का कार्य है। निक्षेप के अनेक भेद हो सकते हैं, किन्तु कम से कम चार निक्षेप तो आवश्यक हैं ही, यथा—१ नाम निक्षेप, २ स्थापना निक्षेप, ३ द्रव्य निक्षेप और ४ भाव निक्षेप। निक्षेप स्व-द्रव्य पर भी लागू हो सकते हैं और पर-द्रव्य पर भी। स्व-द्रव्य मे जैसे—भगवान् महावीर का खुद का, माता-पिता या देवो द्वारा दिया हुआ १ नाम—नाम से महावीर, २ स्थापना—उनकी आकृति, ३ शरीर और आत्म-द्रव्य और ४ भाव—अनन्त चतुष्ठय युक्त तीर्थंकर नामकर्म के उदय से युक्त। (यह बाल्यावस्था, छद्मस्थ सयमी जीवन या उस भव सम्बन्धी भाव के अनुसार किसी भी अवस्था का चिन्तन हो सकता है) इन चार के सिवाय काल, गति आदि की अपेक्षा से भी चिन्तन हो सकता है।

पर-द्रव्य मे निक्षेप इस प्रकार होते हैं।

१ नाम निक्षेप—किसी भी जीव या अजीव का 'महावीर' नाम दिया जाय, तो वह नाम निक्षेप है।

२ स्थापना निक्षेप—किसी सजीव या निर्जीव वस्तु—लकडी, पत्थर, मिट्टी, धातु, कपडे या ऐसी ही किसी वस्तु मे महावीर का आरोपण किया जाय, तो वह स्थापना महावीर

है। ऐसी स्थापना पुरुष की आकृति से युक्त हो, तो 'सद्भाव स्थापना' कहलाती है, और बिना ही किसी आकृति के यो ही काष्ठखड, पत्थर, ईंट या धातु के टुकडे आदि को रख कर उसे 'महावीर' की कल्पना की जाय, तो वह 'स्थापना महावीर' होगा।

३ **द्रव्य निक्षेप**–भाव का भाजन। भगवान् महावीर की आत्मा मे जबतक महावीरत्व के भाव उत्पन्न नही हुए अथवा महावीरत्व के धारक आत्मा के प्रयाण के बाद रहा हुआ शरीर, 'द्रव्य महावीर' है।

गुण के उस आधार (पात्र) को द्रव्य कहते हैं कि जिसमे भविष्य मे गुण उत्पन्न होने वाला हो, अथवा भूतकाल मे उत्पन्न होकर नष्ट हो चुका हो और खाली पात्र रह गया हो। उपयोग रहित क्रिया भी द्रव्य-निक्षेप मे मानी गई है। यह द्रव्य-निक्षेप दो प्रकार का है। यथा–

आगमतः–बिना उपयोग के आगमोक्त क्रिया करना, अथवा आगमो का पठन, वाचन, पृच्छा, परावर्तना और धर्मकथन, बिना उपयोग करना–आगम से द्रव्य-निक्षेप है। इसमे स्वाध्याय के चार भेद ही लिये हैं, 'अनुप्रेक्षा' नही ली गई है। क्योकि अनुप्रेक्षा तो उपयोग–भावपूर्वक ही होती है। जो व्यक्ति आवश्यक करता है, उसका उच्चारणादि शुद्ध एवं ज्ञानातिचार से रहित है, किन्तु उस आवश्यक मे उसका उपयोग नही है, वह बिना भाव के उच्चारणादि कर रहा है, तो यह 'आगमतः द्रव्य निक्षेप' है।

नो-आगमतः—जिसमे आगमोक्त क्रिया नही हो रही है, वह नो-आगमत द्रव्य-निक्षेप है। इसके तीन भेद हैं, १ ज्ञ-शरीर २ भव्य-शरीर और ३ तद्व्यतिरिक्त।

१ ज्ञ-शरीर नो-आगम द्रव्य-निक्षेप—आगम का ज्ञाता आत्मा के शरीर से निकल जाने पर वह मुर्दा शरीर—नो-आगम ज्ञायक शरीर द्रव्य है। उसमे भूतकाल मे आगमज्ञ आत्मा निवास करती थी। अब वह गत-भाव होने से खाली पात्र रह गया है—घृत निकल जाने के बाद खाली रहे हुए घड़े की तरह। तीर्थंकर भगवान् अथवा साधु-मुनिराजो का निर्जीव शरीर भी इसी भेद मे आता है।

भव्य-शरीर नो-आगम द्रव्य-निक्षेप—भविष्य मे आगम का ज्ञाता होने वाला द्रव्य। जिसने सुश्रावक के घर मे जन्म लिया है ऐसा बालक, जो भविष्य मे श्रावक-धर्म का ज्ञाता होगा। जैसे—किसी ने घृत भरने के लिए घडा बनाया या खरीदा, वह भविष्य मे उसमे घृत भरेगा, किन्तु अभी खाली है।

तीर्थंकर नाम-कर्म को निकाचित करके देव या नरक-भव मे आ कर वहा से माता के गर्भ मे आने वाले और जन्म लेकर तीर्थंकर पद प्राप्त करने के पूर्व की सभी अवस्था—द्रव्य तीर्थंकरत्व की ही है। इस भेद मे वास्तविक गुण उत्पन्न होने के पूर्व की अवस्था ग्रहण की गई है।

ज्ञ-भव्य-व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य-निक्षेप—इसके तीन भेद हैं—१ लौकिक २ लोकोत्तर और ३ कुप्रावचनिक।

लौकिक—ससारी लोग, अपना नित्य लौकिक कार्य करते हैं, जैसे—प्रात काल उठ कर शौच जाना, हाथ मुंह धोना, स्नान करना, केश सँवारना और वस्त्राभूषण पहना तथा अपना-अपना कार्य करना आदि, यह उनकी लौकिक नित्य क्रिया है। इसलिए यह उनका लौकिक द्रव्यावश्यक है। तात्पर्य यह कि लोक संबधी जितनी भी क्रिया की जाय, वह 'लौकिक नो-आगम द्रव्य-निक्षेप' है।

लोकोत्तर—लोक से परे—परभव के उद्देश्य से क्रिया करने वाले, श्रमण के गुण से रहित, जिनमे जीवो की अनुकम्पा नही है, जो स्वच्छन्द हैं, मदोन्मत्त तथा निरकुश हो कर विचरते है, जिनमे शरीर और वस्त्रादि की सफाई की ही विशेष रुचि रहती है, जो जिनाज्ञा के विराधक हैं, ऐसे साधु आदि कहे जाने वाले और धार्मिकपन का—लोकोत्तर साधक का डौल करने वाले की क्रिया, 'लोकोत्तर नो-आगम द्रव्य निक्षेप' है।

कुप्रावचनिक—निर्ग्रंथ-प्रवचन के अतिरिक्त दूसरे प्रवचन को मानने वाले, तदनुसार मृगछाला अथवा व्याघ्रचर्म धारण करने वाले, गेरुए वस्त्र धारण करने वाले, शरीर पर भस्म लगाने वाले, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से रहित, गृहस्थधर्म के उपदेशक, गृहस्थधर्म के चितक आदि पाखण्डी लोग, प्रात काल होते ही इन्द्र, स्कन्ध, वैश्रमण आदि कुप्रावचनिक देवो की पूजा-वन्दनादि करते हैं। इनकी इस प्रकार की सभी क्रिया 'कुप्रावचनिक-लोकोत्तर नोआगम द्रव्यावश्यक'—द्रव्यनिक्षेप मे है।

नाम, स्थापना और द्रव्य–ये तीनो निक्षेप अवस्तु हैं। क्योकि इनमे गुण=भाव=वास्तविकता की अपेक्षा नही होती।

४ भाव निक्षेप–जो गुण युक्त हो, सार्थक हों, जिसमे अपने अर्थ की सगति यथार्थरूप से होती हो–वह भाव निक्षेप है। इसके दो भेद हैं,–

आगमतः–जिसका आगम मे उपयोग लगा हुआ हो, अथवा जो आगमोक्त क्रिया उपयोगपूर्वक कर रहा हो, भावपूर्वक आगमो का पठन–स्वाध्याय कर रहा हो, अनुप्रेक्षा युक्त हो–वह 'आगमत. भाव निक्षेप' है।

नो आगम से–इसके तीन भेद हैं।

लौकिक–अजैन लोग, अपने मतानुसार प्रात.काल भारत आदि और सायकाल रामायणादि का भावपूर्वक वाचन अथवा श्रवण करते है, वह 'लौकिक नोआगम भाव निक्षेप' है।

लोकोत्तर–निर्ग्रन्थ साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, आत्म कल्याण के लिए उपयोगपूर्वक और यथाकाल जो-जो आराधना करते हैं, वह 'लोकोत्तर नोआगम भाव निक्षेप' है। भावपूर्वक उभयकाल किये हुए आवश्यक को 'लोकोत्तर नोआगम भावावश्यक' कहते हैं।

कुप्रावचनिक–अन्य मतावलम्बी चरक आदि अपने इष्टदेव को भावपूर्वक अर्घ्य देते हैं, प्रणाम करते हैं, हवन करते हैं और मन्त्र का जाप आदि अनेक क्रियाएँ करते हैं। ये सब 'कुप्रावचनिक नोआगम भाव आवश्यक' हैं। कुप्रवचन सम्बन्धी

सभी क्रियाएँ जो भावपूर्वक की जाती है, वे सब इस भेद में आती है।

ये चारो निक्षेप, वस्तु को समझने के लिए हैं। यह ज्ञान का विषय है। ज्ञान से वस्तु का स्वरूप जानना और हेय को त्याग कर उपादेय को स्वीकार करना, प्रत्येक आत्मार्थी का कर्त्तव्य है।

निक्षेपो की भी मर्यादा है। दूर रहे हुए मनुष्य को पुकारने अथवा पता लगाने के लिए नाम निक्षेप उपयोगी है। उसे बाह्यरूप से पहिचानने के लिए स्थापना निक्षेप (आकृति) आवश्यक है। नाम निक्षेप देखने का विषय नही, किन्तु पुकारने या सुनने से सबंध रखता है, तब आकृति=स्थापना, आँखो से देखने या दिखाने से सबध रखती है। ये दो निक्षेप मूल वस्तु मे व खुद मे भी होते हैं और इनका आरोप दूसरे मे भी किया जा सकता है। इनका भिन्न वस्तु मे निक्षेप हो सकता है, किन्तु द्रव्य तो द्रव्य की (उपयोग अथवा गुण रहित) क्रिया होने पर ही होता है और भाव तो मूल वस्तु ही है।

पूर्णरूप से उपयोग भाव है। उससे द्रव्य कम उपयोगी है, और नाम स्थापना तो बहुत कम उपयोगी है। वस्तु का उतना ही उपयोग होना चाहिए जितनी कि वह योग्य हो। योग्यता से अधिक महत्व देना समझदारी नही है।

जिस प्रकार संसार पक्ष मे भाव रहित (असलियत से भिन्न) नाम, स्थापना, असली वस्तु की तरह स्वीकार नही की जाती, उसी प्रकार धर्म-पक्ष मे भी भाव-शून्य नामादि तीन

निक्षेप, भाव की तरह वन्दनीय-पूजनीय नही होते ।

किसी भी वस्तु का कोई न कोई नाम तो होता ही है, बिना नाम की कोई वस्तु नही होती । वह नाम चाहे गुण निष्पन्न हो या गुण-शून्य । नाम धारण करने के बाद ही वस्तु व्यवहार मे आती है ।

अपने हाथो की अंगुलियाँ भी नाम धारण की हुई है, और कुछ नही, तो 'निर्नामिका' ही सही, पर नाम तो रखा ही । गुह्य-स्थान का नाम नही लेकर "आवाच्य अग" नाम भी दिया गया है । इस प्रकार वस्तु नामयुक्त होती ही है । उस वस्तु मे कुछ न कुछ आकृति भी होती है और वह द्रव्य तो है ही, बिना द्रव्य के वस्तु ही कैसी ? और द्रव्य मे गुणरूपी भाव तो होता ही है । इस प्रकार ये चारो बातें प्रत्येक वस्तु मे होती है । जब उस वस्तु का पर-द्रव्य मे निक्षेप होता है, तो उसमे असल वस्तु के चारो निक्षेप घटित नही होते, केवल दो ही निक्षेप हो सकते हैं—नाम और स्थापना । पर वस्तु मे द्रव्य दूसरी स्थापित वस्तु का नही, अपना ही होता है। महावीर का द्रव्य, उनकी-अपनी महावीरत्व उत्पन्न करने वाली आत्मा एव शरीर हो सकता है और भूतकाल मे महावीरत्व धारण करने वाला शरीर। द्रव्य वही—जिसमें भविष्यकाल मे भावोत्पत्ति होगी या भूतकाल मे भाव ने निवास किया हो । बिना भाव के—भूत या भावी सम्बन्ध के द्रव्य हो ही नही सकता । द्रव्य, भाव का पात्र है । जिस पात्र मे भाव के निवास करने की सभावना ही नही की जा सकती, वह द्रव्य ही कैसा ? अतएव स्व-द्रव्य के पर-द्रव्य

मे केवल नाम और स्थापना निक्षेप ही हो सकते हैं, द्रव्य नही। उस पर-द्रव्य मे अपना ही द्रव्य रहता है। जब द्रव्य नही, तो भाव तो हो ही कैसे ? क्या कभी लकडी, पत्थर या कागज की स्थापना मे भ. महावीर का भाव हो सकता है ? नहीं।

वे साधु भी द्रव्य साधु है–जो साधु का वेश धारण किये हुए हैं, साधु कहलाते हैं, कुछ क्रियाएँ भी करते है, किन्तु उनकी मनोवृत्ति साधु के योग्य नही होती, वे जिनाज्ञा के विपरीत श्रद्धा रखते है, असत्य प्रचार करते हैं और अनाचार का सेवन करते हैं। वे नाम, स्थापना और द्रव्य से युक्त होते हुए भी भाव के अभाव मे असाधु हैं। भाव रहित होने के कारण नामादि तीन के सद्भाव मे वन्दनीय नहीं होते। श्रावक भी नाम स्थापना और द्रव्ययुक्त होकर भी, बिना भावगुण के कार्यसाधक नही होते। अतएव भाव श्रावकपन विकसित करने में सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।



पूज्य बहुश्रुत श्रमणश्रेष्ठ का प्रवचन

अनेकान्त का विषय चल रहा है। वस्तु अनेक धर्म वाली होती है। शब्द भी अनेक अर्थ वाले होते हैं। आशय एवं अपेक्षाएँ भी विभिन्न होती है। ज्ञाताधर्मकथा सूत्र मे थावच्चापुत्र अनगार और परिव्राजकाचार्य शुकदेवजी का सम्वाद आया है। शुकदेवजी ने पूछा था–"आप एक हैं, दो हैं, या अनेक हैं ?"

अनगार ने उत्तर दिया—"हा, मैं एक भी हूँ, दो भी हूँ और अनेक भी हूँ। द्रव्य की अपेक्षा मैं एक हूँ। ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा दो हूँ और पर्याय की अपेक्षा मैं अनेक भी हूँ। मैं आत्म-प्रदेश की अपेक्षा अक्षय, अव्यय एव अवस्थित हूँ और उपयोग की अपेक्षा मैं भूत एवं भविष्यमय हूँ।" इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि से एक ही व्यक्ति मे एकत्व-अनेकत्वादि घट सकता है। थावच्चापुत्र अनगार का उत्तर अनेकान्त युक्त है।

भगवतीसूत्र मे पिंगल निर्ग्रंथ के खंदकजी से हुए प्रश्न और खदकजी के भगवान् से हुए प्रश्नोत्तर का उल्लेख है। पिंगलजी निर्ग्रंथ थे और सावत्थी नगरी मे स्थिरवास रहते थे। उन्होने खदकजी से पूछा,—

"१ लोक सान्त है या अनन्त ? २ जीव सान्त हैं या अनन्त ? ३ सिद्धक्षेत्र शान्त है या अनन्त और ४ सिद्ध भगवान् अन्त सहित है या अन्त रहित ● ?"

पिंगल निर्ग्रंथ का प्रश्न सुन कर खंदकजी स्तभित एवं मौन रह गए। वे कुछ भी उत्तर नही दे सके। वास्तव मे वे इन प्रश्नो का उत्तर नही जानते थे। न तो वे इनका स्वरूप जानते थे और न अनेकान्तवाद से परिचित थे। वे अपने मत के पारगत विद्वान थे, किन्तु इन प्रश्नो के सही उत्तर से वे अपरि-चित थे। वे हृदय के सरल थे। असत्य बोलने या वितण्डावाद

● इन चार प्रश्नो के सिवाय और भी प्रश्न थे, जिनका पूज्यश्री ने विवेचन किया था, किन्तु विषय से सम्बन्धित चार प्रश्न और उनके उत्तर का ही उल्लेख किया जा रहा है।

जैसे अधम मार्ग से वे दूर रहते थे। जब उन्हे प्रश्न का सही उत्तर नही मिला, तो वे मौन रह गए। पिंगल निर्ग्रंथ ने दो-तीन बार पूछा, परन्तु वे मौन ही रहे। खन्दकजी को निरुत्तर देख कर पिंगलजी लौट आए। उस समय भ. महावीर कृतांगला नगरी मे थे। खदकजी ने सुना, तो सोचा कि महावीर-सर्वज्ञ सर्वदर्शी माने जाते है। वे इन प्रश्नो का उत्तर दे सकेंगे। मै उनके पास जाऊँ और इन प्रश्नो का उत्तर उनसे पूछूं। वे स्वस्थान आये और अपने भण्डोपकरण ले कर भगवान् के पास जाने के लिए चल दिये। उधर भगवान् ने गौतमस्वामी से कहा कि आज तुम अपने मित्र से मिलोगे। भगवान् ने पिंगल निर्ग्रंथ द्वारा खन्दकजी से पूछे हुए प्रश्न और खन्दकजी का निरुत्तर होना तथा शीघ्र ही यहा पहुँचना बतलाया और यह भी कहा कि वे दीक्षित होगे। गौतमस्वामी ने मित्र के उत्थान का कारण जान कर, स्वागत करने आये। खन्दकजी का स्वागत करते हुए गौतमस्वामी ने उनके आने का कारण बताया, तो खन्दकजी चकित रह गए। उन्हे भगवान् की सर्वज्ञता का पता पहले से ही लग गया। भगवान् के दर्शन होते ही वे प्रभावित हो गए। भगवान् ने उनके आगमन का कारण बता कर इस प्रकार उत्तर दिया;—

"खन्दक! लोक सान्त भी है और अनन्त भी। द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा लोक सान्त है और काल तथा भाव की अपेक्षा अनन्त है। इस प्रकार अपेक्षापूर्वक लोक सान्त भी है और अनन्त भी।"

यदि कोई सोचे कि एक ही वस्तु में सान्तता और अनन्तता कैसे हो सकती है ? तो समझना चाहिए कि विविध अपेक्षाओ से ऐसा हो सकता है । जैसे—

बहिन और भाई आपस मे बातें कर रहे हो, इतने मे उस बहिन का पति वहा आ पहुँचे, तो बहिन तत्काल घूंघट करके मुँह छुपा लेती है । यह देख कर कोई तीसरा व्यक्ति पूछे कि 'इस स्त्री ने घूंघट किस का किया ?' तब कहा जायगा कि—'पति का'। यदि वह पूछे कि—क्या पति से भी पत्नी पर्दा करती है ?' तो कहेगा कि—'नही, किन्तु भाई की उपस्थिति मे बहन अपने पति का घूंघट निकाल कर पर्दा कर लेती है । इस प्रकार वह घूंघट, पति का हुआ । किन्तु जब पति और पत्नी एकान्त में बैठ कर बातें कर रहे हो. उस समय उसका भाई आ जाय और उसे देख कर घूंघट निकाले, तब वह घूंघट भाई का होगा । क्योकि उस समय भाई के आने पर घूंघट निकाला, अन्यथा पति का घूंघट निकालने की आवश्यकता ही नही थी । उसके साथ तो वह खुले मुँह बात कर ही रही थी । अतएव उस समय निकाला हुआ घूंघट, भाई का कहा जायगा । इस प्रकार अपेक्षा भेद से घूंघट पति का भी हुआ और भाई का भी । यो पृथक् रूप मे न तो भाई से पर्दा है, न पति से । इसी प्रकार अपेक्षा भेद से लोक सान्त भी है और अनन्त भी ।

एक मनुष्य के मस्तक एक, 'आंखे दो है,' हाथ की अगुलियां पांच और दस है और सिर के बाल अगणित है । कोई कहे कि बाल अगणित कैसे हैं, उसकी भी संख्या बतानी चाहिए ।

नही, हमारे तुम्हारे लिए अगणित है, किन्तु सर्वज्ञ के लिए निश्चित सख्या है। हमारी अपेक्षा अगणित, किंतु सर्वज्ञ की अपेक्षा अगणित नही। इस प्रकार अपेक्षा भेद से वस्तु मे भी भेद विवक्षा होकर अनेकान्त होता है।

पेंसिल एक है, लिखने वाला उससे अनेक विषय, अनेक मनुष्यो का अभिप्राय, अनेक भाषा के अगणित शब्द लिख सकता है। पेसिल एक, उससे लिखी जाने वाली लिपि और भाषा अनेक तथा अक्षर अगणित है। इस प्रकार एक वस्तु मे अपेक्षा भेद से अनेकान्त है।

जीव, आत्म-द्रव्य की अपेक्षा एक है। मेरी, तुम्हारी और सभी की आत्मा पृथक् पृथक् एक-एक ही है, किन्तु प्रदेशो की अपेक्षा असंख्यात है। काल से जीव अनादि अनन्त है और भाव से भी अनन्त है। आत्मा, द्रव्य की अपेक्षा शाश्वत है, किंतु पर्याय (अवस्था विशेष) से अशाश्वत है, शरीर, इन्द्रिय, प्राण और भव की अपेक्षा अशाश्वत है। इस प्रकार एक शाश्वत जीव भी अशाश्वत है।

सिद्धक्षेत्र भी द्रव्य से एक, क्षेत्र से ४५००००० योजन—इस प्रकार द्रव्य और क्षेत्र से सान्त, किंतु काल और भाव से अनन्त है। सिद्ध परमात्मा द्रव्य की अपेक्षा एक सिद्ध सान्त है +। क्षेत्रापेक्षा असंख्य-प्रदेशात्मक है और असख्य-प्रदेश क्षेत्रावगाही है. काल की अपेक्षा सादि अनन्त है और भाव की अपेक्षा ज्ञान-

+ सभी सिद्धो की अपेक्षा द्रव्य से सिद्ध अनन्त हैं। और काल से अनादि अनन्त हैं।

दर्शनादि अनन्त पर्याय युक्त अनन्त है।

एक व्यक्ति छोटा भी है और बडा भी है। अपने से बडे की अपेक्षा छोटा और अपने से छोटे की अपेक्षा बडा है। आप छोटे भी हैं और बडे भी है। एक मनुष्य किसी का पुत्र भी है और पिता भी है। सुना है कि बादशाह का मन्त्री बीरबल बडा बुद्धिमान था। एक बार बादशाह ने एक लकीर खिच कर अन्य मन्त्रियो और सभासदो से कहा–"इस लकीर को स्पर्श किये बिना ही छोटी बना दो।" सभी सभासद स्तब्ध रह गए। उनकी समझ मे ही नही आया कि ऐसा कैसे हो सकता है। बादशाह ने बीरबल को पुकारा। बीरबल ने उस लकीर के पास दूसरी बड़ी लकीर बना दी, जिससे बादशाह की खिची हुई लकीर उससे छोटी हो गई। छोटी की अपेक्षा बडी और बडी की अपेक्षा छोटी। यह अपेक्षा भेद सर्वत्र समझना चाहिए। इस प्रकार अपेक्षा भेद से वस्तु का स्वरूप समझना सम्यग्ज्ञान है। सर्वथा एकान्तवादी बन जाना मिथ्यात्व है। धर्म-तत्त्व को समझने के लिए अनेकान्त का सहारा लेकर जीव अपना उत्थान कर लेता है।

अनेकान्त (नय)

मेरा वक्तव्य

श्रुतज्ञान, नय युक्त होता है। श्रुत के प्रमाण से विषय किये हुए पदार्थ का किसी अपेक्षा से कथन करना। दूसरी अपे-

क्षाओ का विरोध नही करते हुए, अपनी दृष्टि के अनुसार अभिप्राय व्यक्त करना–नयवाद है।

प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म रहे हुए हैं। उन अनन्त धर्मों मे से किसी एक धर्म को मुख्यता से जानने वाला ज्ञान, 'नय ज्ञान' कहलाता है। नय, प्रमाण का एक अश होता है।

'जितने वाक्य उतने ही नय'–इस प्रकार नय के अनेक भेद होते है और ये अनेक नय, सुनय और दुर्नय–ऐसे दो भेद मे बँट जाते हैं।

जो नय, सम्यग्दृष्टि पूर्ण हो, जिसमे अभिप्रेत नय के अतिरिक्त दृष्टियो का विरोध नही होता हो और जिसमे विषमता नही हो–वह 'सुनय' कहलाता है। इसके विपरीत जो अभिप्रेत दृष्टि के अतिरिक्त सभी दृष्टियो का विरोध करता हो, जिसकी विचारधारा मे विषमता हो, ऐसे मिथ्यादृष्टि पूर्ण, एकान्तिक अभिप्राय को दुर्नय कहते हैं।

सुनय के सक्षेप मे दो भेद हैं–१ द्रव्यार्थिक और २ पर्यायार्थिक।

द्रव्यार्थिक–द्रव्य (सामान्य वस्तु) को विषय करने वाले नय को–द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। इसके तीन भेद हैं–१ नैगम २ सग्रह ३ व्यवहार ‡।

पर्यायार्थिक–पर्याय विशेष–द्रव्य की परिवर्तनशील अवस्था विशेष को विषय करने वाले नय को पर्यायार्थिक नय

‡ इसमे मत भेद भी है। विशेषावश्यक मे द्रव्यार्थिक नय मे 'ऋजुसूत्र' सहित चार नय माने हैं और पर्यायार्थिक नय मे शब्दादि तीन नय माने हैं।

कहते हैं। इसके चार भेद है-१ ऋजुसूत्र २ शब्द ३ समभिरूढ और ४ एवभूत।

उपरोक्त दोनो भेदो मे सात नय माने गये हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है।

१ **नैगम नय**-जिसके अनेक गम-अनेक विकल्प हो, जो अनेक भावो से वस्तु का निर्णय करता हो, वह नैगम नय है।

दो द्रव्यो, दो पर्यायो और द्रव्य और पर्याय की प्रधानता तथा गौणता से विवक्षा करने वाला-नैगम नय है। इसका क्षेत्र, अन्य नयो की अपेक्षा अधिक विशाल एव सर्व व्यापक है।

जिस देश मे जो शब्द, जिस अर्थ मे प्रचलित हो, वहा उस शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानना भी नैगम नय है।

निगम का अर्थ है 'सकल्प,' जो सकल्प को विषय करता है, वह नैगम नय कहलाता है। यह सकल्प के अनुसार एक अंश ग्रहण करके वस्तु को पूर्ण मान लेता है।

जैसे-एक स्थान पर कई व्यक्ति बैठे हैं। वहा कोई आ कर पूछे कि "आप मे से बम्बई कौन जा रहा है," तो उनमे से एक व्यक्ति कहता है कि "मैं जा रहा हूँ," वास्तव मे वह बैठा है, जा नही रहा है, किन्तु जाने के सकल्प मात्र मे जाने का कहा। यह नैगम नय की अपेक्षा से सत्य है।

यह नय, कार्य का एक अश उत्पन्न होने से ही वस्तु को पूर्ण मान लेता है। जैसे-

किसी कुंभकार को घडा बनाने की इच्छा हुई। वह मिट्टी लेने जंगल मे जाने लगा। पडोसी ने पूछा-'कहा जाते

हो' ? उसने कहा–'घडा लेने जाता हूँ।' मिट्टी खोदते समय किसी ने पूछा–'क्या करते हो ? कहा–'घडा लेता हूँ।' मिट्टी ले कर घर आने पर किसी ने पूछा, तो कहा–'घडा लाया हूँ।' इस प्रकार घडे के विचार–संकल्प तथा उस दिशा मे किंचित् प्रवृत्ति प्रारम्भ करने पर उस कार्य को सम्पूर्ण मान लेना, नैगम नय का अभिप्राय है।

नैगम नय के दो भेद हैं–१ सामान्य और २ विशेष। सामान्य मे पर्याय का ग्रहण नही होता। यह नही कहा जाता है कि घट किस रग का, किस आकृति का, कितना वडा, मिट्टी का, ताम्बे का, पीतल का या चाँदी आदि का है। मात्र 'घट' कहा जाय–उसे सामान्य अश रूप नैगम कहते हैं। किन्तु जिसमे उसकी पर्याय–रग, आकृति तथा छोटे-वडे आदि का जिक्र हो, उसे विशेप अश रूप नैगम कहते है।

इसके अतिरिक्त काल की अपेक्षा नैगम के तीन भेद होते हैं,–१ भूत नैगम २ भविष्य नैगम और ३ वर्त्तमान नैगम।

भूतकाल मे वर्त्तमानकाल का सकल्प करना–भूत नैगम नय है। जैसे दीवाली के दिन कहना कि 'आज भगवान् महावीर मोक्ष पधारे," जब कि उन्हे मोक्ष पधारे हजारो वर्ष बीत गये। इस वाक्य मे आज का सकल्प, हजारो वर्ष पहले–भूतकाल मे किया गया है।

भावी नैगम–अरिहंत को सिद्ध कहना, बछिया को गाय कहना, बछडे को बैल कहना, अधिकार रहित राजपुत्र (युवराज) को राजा कहना, अर्थात् भविष्य मे उत्पन्न होने वाली पर्याय

मे भूत का सकल्प करना–भावी नैगम है।

वर्त्तमान नैगम–जैसे भोजन बनाना शुरू कर दिया हो, किन्तु उसके बनने के पूर्व ही कहना कि 'आज तो भात बनाया है'।

२ संग्रह नय–यह नय विशेष (भेदो) को छोड कर सामान्य–द्रव्यत्व को ग्रहण करता है। एक जाति मे आने वाली समस्त वस्तुओ मे एकता लाना इसका अभिप्राय है। यह एक शब्द मात्र से उन सभी अर्थों को ग्रहण कर लेता है, जो इससे सम्बन्ध रखते हैं। जैसे किसी ने अपने सेवक को आज्ञा दी कि–"जाओ दातुन लाओ," वह सेवक एक 'दातुन' शब्द से –मंजन, कूची, जीभी, पानी का लोटा, टुवाल आदि सभी वस्तुएँ ले आता है।

सग्रह नय के भी भेद हैं, एक पर-सग्रह और दूसरा अपर-सग्रह। पर-सग्रह सामान्य ग्राहक है। यह सत्तामात्र को ग्रहण करता है। 'द्रव्य' शब्द से यह जीव-अजीव का भेद नही करके सभी द्रव्यो को ग्रहण करता है। अपर-संग्रह उसे कहा गया है कि जो अपने मे विषयभूत होने वाले द्रव्य विशेष को ही ग्रहण करके दूसरे द्रव्य को छोड देता है। जैसे–'जीव' शब्द से यह सभी जीवो को ग्रहण करके अजीव को छोड देता है। इसलिए इसे अपर–सामान्य सग्रह नय कहते हैं।

शब्द के समस्त अर्थों का बिना किसी भेद के ग्रहण करना-सग्रह नय का अभिप्राय है।

३ व्यवहार नय–सग्रह किये हुए पदार्थो मे, लोक-

व्यवहार के लिए विधिपूर्वक भेद करना, जैसे—द्रव्य के छः भेद, फ़िर प्रत्येक द्रव्य के अन्तर्भेद करना। पर्याय के सहभावी और क्रमभावी तथा जीव के ससारी और मुक्त, इस प्रकार भेद करना व्यवहार नय का कार्य है। यह नय, सामान्य की उपेक्षा करके विशेष को ग्रहण करता है।

यह नय, निश्चय की उपेक्षा करता है और लोक-व्यवहार को ग्रहण करता है। जैसे, निश्चय से घट पटादि वस्तुओ मे आठ स्पर्श, पाँच वर्ण, दो गन्ध और पाँच रस पाये जाते हैं, किन्तु व्यवहार एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और एक स्पर्श का होता है, जैसे—कोयल काली है, फूल सुगन्धी है, मिश्री मीठा है, मक्खन कोमल है। इस प्रकार एक-एक वर्णादि को ग्रहण करके शेष को छोड देना, व्यवहार नय का विषय है।

यह नय, प्राय उपचार मे ही प्रवृत्त होता है। इसके ज्ञेय विपय भी अनेक हैं। इसलिए इसे 'विस्तृतार्थ' भी कहते हैं। लोक-व्यवहार अधिकतर इसी से संबंधित होता है। बोल-चाल मे जो यह कहा जाता है कि 'घडा चूता है, मार्ग चलता है, गांव आ गया, चूल्हा जलता है,—ये सब औपचारिक शब्द हैं। वास्तव मे चूता है पानी, घडा नही चूता, चलता है मनुष्य, मार्ग नही चलता, आता है मनुष्य, गाव नही आता और जलती है लकडियाँ चूल्हा नही जलता, किन्तु लोग जो इस प्रकार का उपचार करते हैं, यह व्यवहार नय के अनुसार है।

व्यवहार नय के भी सामान्य भेदक और विशेष भेदक—ऐसे दो भेद हैं। सामान्य संग्रह मे भेद करने वाले नय को

सामान्य-भेदक कहते हैं, जैसे-द्रव्य के दो भेद-१ जीव द्रव्य और २ अजीव द्रव्य। विशेष सग्रह मे भेद करने वाले नय को विशेष-भेदक कहते हैं। जैसे-जीव के दो भेद १ सिद्ध और २ ससारी।

जीव के ५६३, अजीव के ५६०, चौदह गुणस्थान, पाँच चारित्र आदि विषय, व्यवहार नय के अन्तर्गत होते हैं, निश्चय नय से नही।

४ **ऋजुसूत्र नय**—द्रव्य की वर्त्तमान पर्याय को ग्रहण करके, भूत और भविष्य की उपेक्षा करने वाला यह नय है। वर्त्तमान मे यदि आत्मा सुख का अनुभव करती है, तो यह नय उसे सुखी कहेगा और बाह्य रूप से अनेक प्रकार की अनुकूलता होने पर भी यदि आत्मा मे किसी प्रकार का खेद वर्त्तमान हो, तो यह नय उसे दुखी कहेगा।

एक सेठ सामायिक मे बैठे थे। उस समय बाहर के किसी व्यक्ति ने आकर पुत्रवधू से पूछा–'सेठ कहाँ है'? उसने कहा–'चमार के यहाँ गये हैं'। उसने वापस लौट कर कहा–'चमार के यहाँ तो नही है,' तब उसने, कहा–'पसारी की दुकान पर गये हैं'। वह वहाँ से भी खाली लौट कर आया, तब उसे दुकान पर जाने का कहा। दुकान पर नही मिलने पर वह फिर घर आया। इतने मे सेठ ने सामायिक पार ली थी। उन्होने पुत्रवधू से पूछा–'तुझे मालूम था कि मैं सामायिक कर रहा हूँ, फिर तेने उसे झूठा उत्तर क्यो दिया'? पुत्रवधू बुद्धिमती और मानस-विज्ञान की ज्ञाता थी। उसने कहा 'पिताजी!

आप ऊपर से तो सामायिक मे थे, किन्तु उस समय आप विचारो से चमार की दुकान पर जूते खरीद रहे थे, इसलिए मैने आपके विचारो के अनुसार ही आपकी उपस्थिति बताई। दूसरी बार आया, तब आप पँसारी की दुकान पर सोठ खरीदने के विचारो मे लगे हुए थे और तीसरी बार आपकी विचारणा मे दुकान का कार्य चल रहा था। इसलिए मैने आपके विचारो के अनुसार ही उपस्थिति बताई। सेठ यह बात सुन कर समझ गये कि बहू ने व्यवहार की उपेक्षा करके वर्त्तमान पर्यायग्राही ऋजुसूत्र नय के अनुसार उत्तर दिये, जो ठीक ही हैं।

इस नय के भी दो भेद हैं-१ सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय और २ स्थूल ऋजुसूत्र नय। सूक्ष्म ऋजुसूत्र एक समय मात्र की पर्याय को ग्रहण करता है, जैसे-'शब्द क्षणिक है'। जो अनेक समयो की वर्त्तमान पर्यायो को ग्रहण करे, वह स्थूल ऋजुसूत्र नय है। जैसे-मनुष्य पर्याय सौ वर्ष से कुछ अधिक है।

व्यवहार मे साधु का वेश धारण किये हुए होने पर भी यदि किसी का मन सांसारिक विषयो मे लगा हो, तो यह नय उस समय उसे साधु नही मानता। तात्पर्य यह कि यह नय, व्यवहार की उपेक्षा करके वर्त्तमान अभिप्राय अथवा वस्तु की पर्याय को ही ग्रहण करता है।

५ शब्द नय—यह नय शब्द प्रधान है। काल, कारक, लिंग, वचन, पुरुष और उपसर्ग आदि के भेद से शब्दो मे अर्थ-भेद करने वाला है। जैसे-'सुमेरु था, सुमेरु है, सुमेरु होगा'। इन शब्दों मे काल-भेद से सुमेरु के तीन भेद बन गये। 'घडे

को करता है,' 'घड़ा किया जाता है,'—इस प्रकार कारक भेद से घड़े के भेद होते हैं। पुल्लिग आदि लिंग-भेद, एक वचनादि वचन-भेद और इस प्रकार अन्य शब्द-भेद से अर्थ-भेद व्यक्त करने वाला—शब्द नय है।

ऋजुसूत्र नय, शब्द-भेद की उपेक्षा करता है। वह कहता है कि 'शब्द भेद भले ही हो, उससे वाच्य पदार्थ मे भेद नही होता। इसलिए वह शब्द की उपेक्षा करता है, किन्तु शब्द नय, काल आदि भेद से अर्थ-भेद मान कर तदनुसार ग्रहण करता है। यदि काल, लिंग, और वचनादि भेद नही हो, तो यह नय, भिन्न अर्थ होने पर भी शब्द के भेद नही करता, जैसे—'इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, इन तीनो शब्दो का वाचक, बिना काल, लिंग और वचनादि भेद के 'प्रथम स्वर्ग का इन्द्र' ही अर्थ करता है। इसलिए यह नय एकार्थवाचक भिन्न शब्दो मे भेद नही करता। यह नय शब्द प्रधान है।

६ समभिरूढ़ नय—यह शब्द नय से भी सूक्ष्म है। शब्द नय अनेक पर्यायवाची शब्दो का एक ही अर्थ मानता है और उनमे भेद नही करता, तब समभिरूढ नय पर्यायवाची शब्द के भेद से अर्थ-भेद मानता है। इसके अभिप्राय से कोई भी दो शब्द, एक अर्थ के वाचक नही हो सकते। जैसे—इन्द्र और पुरन्दर पर्यायवाची हैं, फिर भी इनके अर्थ मे अन्तर है। 'इन्द्र' शब्द से 'ऐश्वर्यशाली' का बोध होता है और 'पुरन्दर' शब्द से 'पुरो अर्थात् नगरो का नाश करने वाले' का ग्रहण होता है। दोनो शब्दो का आधार एक होते हुए भी अर्थ भिन्नता

है ही। प्रत्येक शब्द का अर्थ, मूल मे तो अपना पृथक् अर्थ ही रखता है, किन्तु कालान्तर मे व्यक्ति या समूह द्वारा प्रयुक्त होते-होते वह पर्यायवाची बन जाता है। यह नय शब्दो के मूल अर्थो को ग्रहण करता है–प्रचलित अर्थ को नही। इस प्रकार अर्थ-भिन्नता को मुख्यता दे कर समभिरूढ़ नय अपना अभिप्राय व्यक्त करता है।

७ **एवभूत नय**–शब्दो की स्व-प्रवृत्ति की निमित्त-भूत क्रिया से युक्त पदार्थों को ही उनका वाच्य मानने वाला नय 'एवभूत' नय है। यह नय, पूर्व के सभी नयो से अत्यन्त सूक्ष्म है।

समभिरूढ नय, शब्द के अनुसार अर्थ को ही स्वीकार करता है, तब एवंभून नय कहता है कि 'खाली अर्थ को स्वीकार कर लेने से ही क्या होता है। जब इन्द्र एश्वय का भोग नही करके नगरो का नाश कर रहा हो, तब उसमे इन्द्रपना है ही कहा? उस समय उसमे इन्द्रन क्रिया नही होने से उसे इन्द्र मानना व्यर्थ ही है, और जिस समय वह एश्वर्य भोग कर रहा हो, उस समय उसे 'पुरन्दर' मानना व्यर्थ है। यह नय खाली घडे को 'घट' नही मानता, किन्तु जब वह अपना कार्य कर रहा हो अर्थात् जल धारण कर रहा हो, तभी घट मानता है। इस नय मे उपयोग युक्त क्रिया ही प्रधान है। यह वस्तु की पूर्णता को ही ग्रहण करता है। यदि उसमे कुछभी खामी हो, एक अंश मे भी न्यूनता हो, तो वह वस्तु इस नय के विषय मे बाहर रहती है।

नय के निश्चय और व्यवहार–ये दो भेद भी होते हैं। निश्चय नय, वस्तु की शुद्ध दशा को बतलाता है और व्यवहार नय, अशुद्ध—सयोगजन्य दशा का प्रतिपादन करता है। यद्यपि व्यवहार नय, दूसरी वस्तुओ के निमित्त से वस्तु को दूसरे ही रूप मे बतलाता है, फिर भो वह असत्य नही है। जैसे कि हम व्यवहार मे घृत से भरे हुए घडे को 'घी का घडा' कहते हैं, किन्तु वस्तुत घडा तो मिट्टी, ताबा या पीतल का बना होता है, घी का नही। इसलिए निश्चय नय के अनुसार घी का घडा नही है। व्यवहार नय उसे घी का घडा कहता है, वह इसलिए असत्य नही है कि उस घडे का सबध घृत से है, उसमे घी भरा हुआ है या घी भरा जाता है। तात्पर्य यह कि निश्चय नय, वस्तु के मूल स्वरूप को ही ग्रहण करता है, निमित्त को नही और व्यवहार नय, निमित्त अवस्था को ग्रहण करता है। अपनी-अपनी दृष्टि से दोनो सत्य है। यदि एक दूसरे का विरोध करे, तो दोनो मिथ्या नय (कुनय) बन जाते हैं। भाषा के भेद मे सत्य और व्यवहार भाषा को सत्य रूप ही माना है और स्थानाग १० मे व्यवहार को भी सत्य कहा है। व्यवहार नय मे पर-दृष्टि मुख्य है, तब निश्चय नय मे स्व-दृष्टि ही है। नैगमादि तीन नय निमित्तग्राही हैं। सब से विशेष अशुद्ध दशा नैगम नय की है। तब ऋजुसूत्रादि चार नय निश्चय-लक्षी हैं और एवंभूत नय परम विशुद्ध दशा का ग्राहक है। व्यवहार नय, गुड को मीठा कहता है, किन्तु निश्चय नय उसमे पाँचो रस मानता है। व्यवहार नय की अपेक्षा भौंरा काला और पोपट हरा है, किन्तु

निश्चय नय इनमे पाँचो वर्ण मानता है। अपनी-अपनी अपेक्षा से दोनो सत्य है।

व्यवहार भाष्य गा. ४७ मे बताया है कि 'आदि के तीन नय अशुद्ध और बाद के चार नय शुद्ध है। वैनयिक मिथ्या-दृष्टि आदि के तीन नय अपनाते हैं। वास्तव मे किसी भी नय का एकान्त ग्रहण मिथ्यात्व युक्त होता है। जो एकान्त व्यवहार को पकड कर निश्चय का विरोध करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं, और उसी प्रकार वे भी मिथ्यादृष्टि हैं जो एकान्त निश्चय को पकड़ कर व्यवहार का खण्डन करते हैं। निश्चय का लक्ष रख कर तदनुकूल व्यवहार के आश्रय से उन्नत होना और विशुद्ध दशा को प्राप्त करना सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है।

इन सात नयो मे से तीसरा 'व्यवहार नय' ही लोक-व्यवहार मे आने योग्य है। नैगम नय का भी आश्रय लिया जाता है, और भूत अथवा भावी का वर्त्तमान मे कथन किया जाता है। एक अश को मुख्यता दी जा सकती है, किन्तु व्यवहार मे ऐसा नही होता। नैगम नय आज की जन्मी हुई बछिया को 'गाय' कह सकता है, किन्तु व्यवहार मे वह गाय स्वीकार नही हो सकती। एक मन दूध मे तोला भर विष मिला हो, तो नैगम नय उस विष को मुख्यता देकर, दूध की उपेक्षा कर सकता है, या विष की उपेक्षा कर दूध ही कह सकता है, किन्तु व्यवहार मे वह दूध हानिकारक होने से अव्यवहार्य होता है। नैगम नय, तोला भर सोने मे मिले हुए मासे भर तांबे को महत्व देकर सोने की उपेक्षा कर सकता है, किंतु व्यवहार नय,

सोने का ही मूल्य देगा और ताम्बे की उपेक्षा कर देगा।

सौ रुपये का एक नोट है, परन्तु वह नकली है। वह नगम और सग्रह नय तथा नाम और स्थापना निक्षेप से युक्त होने पर भी व्यवहार नय से अग्राह्य होने के कारण चलन मे नही आता। इसी प्रकार नैगमादि नय और नामादि तीन निक्षेप आचरण मे स्थान नही पाते।

वस्तु की विविध विशेषताएँ समझने के लिए नैगम, सग्रह नय तथा नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप है। व्यवहार नय के अनुसार श्रावक-व्रत का पालन करना चाहिए। ऋजुसूत्र नय और भाव निक्षेप के अनुसार भावो की सरलता (श्रावक के योग्य प्रशस्त भाव) अपनाना चाहिए और शब्द तथा समभिरूढ नय के अनुसार श्रावकपन सार्थक करना चाहिए, एव एवभूत नय के अनुसार श्रावक शब्द और अर्थ के अनुसार उच्चतम भावो मे रमण करना चाहिए।



(नौवा दिन २३-६-६७)

पं. मु. श्री प्रकाशचंद्रजी म. सा. का व्याख्यान

प्रमाण से जानी हुई अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक अंश या गुण को मुख्य करके जानने वाले ज्ञान को 'नय' कहते हैं। नय कथन मे वस्तु के अन्य गुण गौण हो जाते हैं।

कोई व्यक्ति किसी वस्तु के विषय मे अपना अभिप्राय व्यक्त करता है, तो वह उस वस्तु के किसी एक अंश को लक्ष्य करके कहता है। उस समय उस वस्तु के अन्य गुण एवं अंश उपेक्षित हो जाते है। जब वह मूल द्रव्य का वर्णन करता है, तो पर्याय गौण हो जाती है और पर्याय का कथन करता है, तो द्रव्य उपेक्षित हो जाता है। जब भूत-पर्याय को अपना विषय बनाता है, तो वर्तमान तथा भविष्य की पर्यायें उपेक्षित हो जाती है। इस प्रकार के कथन में यदि वक्ता, लक्षित वस्तु के उपेक्षित गुणो का अपलाप नही करे, खण्डन नही करे, तो वह सुनय होता है, किन्तु यदि अन्य गुणो का विरोध करे, तो वही दुर्नय हो जाता है।

सात नयो मे से प्रथम के तीन नय द्रव्यार्थिक है, शेष चार पर्यायार्थिक। द्रव्य को लक्षित करने वाले द्रव्यार्थिक और पर्याय को ग्रहण करने वाले पर्यायार्थिक हैं। द्रव्य सदाकाल कायम रहता है, वह कभी नष्ट नही होता। जीव हो या अजीव, इनका अस्तित्व ध्रुव है, शाश्वत है, नित्य है, किन्तु पर्याय अशाश्वत, अनित्य तथा क्षणिक होती है। नई पर्याय उत्पन्न होती है और पुरानी नष्ट हो जाती है। जीव, अपने द्रव्य रूप से नित्य एव शाश्वत रहते हुए भी नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव भव धारण करता रहता है। जीव की बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था आदि रूप में परिवर्तन और जन्म, मृत्यु आदि रूप में परिवर्तन होता रहता है। प्रतिसमय पुरानी पर्याय नष्ट होकर नई पर्याय उत्पन्न होती रहती है।

शास्त्र मे नय को समझने के लिए प्रस्थक, वसति और प्रदेश के दृष्टान्त दिये हैं। यथा—

प्रस्थक—धान्य का नाप करने का लकडी का भाजन। मगधादि देशो मे इसका व्यवहार होता था।

एक सुथार, प्रस्थक बनाना चाहता था। वह प्रस्थक बनाने के लिए लकड़ी लेने को बन मे जा रहा था। मार्ग में उसका सम्बन्धी मिला। उसने पूछा—"कहा जा रहे हो ?" उत्तर दिया—"प्रस्थक के लिए जा रहा हूँ।" जब वह लकड़ी काट रहा था, तब अन्य बढई ने पूछा—"क्या कर रहे हो ?" उत्तर मिला—"प्रस्थक काटता हूँ।" छिलते और खोदते समय भी पूछने पर, वह प्रस्थक शब्द का ही प्रयोग कर रहा था। यह शब्द-प्रयोग नैगम नय की विभिन्न अवस्थाएँ प्रकट कर रहा है। प्रथम उत्तर अविशुद्ध, दूसरा शुद्ध, शुद्धत्तर नैगम नय की अपेक्षा से है। कारण का कार्य मे उपचार सभी उत्तरो मे है। द्रव्य के प्रस्थक रूप बन जाने पर प्रस्थक संज्ञा, विशुद्ध नैगम नय की अपेक्षा है। इसमे औपचारिकता बहुत कम हो जाती है और यह विशुद्ध नैगम नय, लोक-व्यवहार युक्त होने से व्यवहार नय भी बन जाता है।

संग्रह नय—धान्य नापने के सभी प्रकार के—छोटे-बड़े प्रस्थक को बिना किसी भेद के संग्रह करता है। इसका अभिप्राय है कि सामान्य धर्म से युक्त सभी द्रव्य, संग्रह नय मे स्थान पा सकते हैं। इसमे न तो कारण का उपचार है और न व्यवहार का भेद है।

व्यवहार नय–संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किये हुए प्रस्थक मे भेद करना–वर्गीकरण करना और लोक-व्यवहार योग्य प्रस्थक को मान्य करना, फिर भले ही वह खाली पड़ा हो और नाप के व्यवहार मे यदा-कदा आता हो।

ये तीनो द्रव्यार्थिक नय हैं।

ऋजुसूत्र नय–यह नय प्रस्थक और नाप योग्य धान्य को प्रस्थक मानता है और वर्तमान-ग्राही है। भूतकाल को बीती हुई और अनागत की अनुत्पन्न पर्याय को यह स्वीकार नही करता।

शब्द, समभिरूढ तथा एवभूत नय के अभिप्राय से प्रस्थक स्वरूप ज्ञान और ज्ञाता ही प्रस्थक है, जो प्रस्थक निर्माण के उपयोग युक्त है।

वसति का दृष्टांत–किसी ने पाटलीपुत्र मे रहने वाले किसी मनुष्य को पूछा–

प्रश्न–आप कहां रहते हैं ?

उत्तर–मैं लोक मे रहता हूं (अविशुद्ध नैगम नय के व्यवहार से)

प्रश्न–लोक तीन हैं–ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक् लोक। क्या आप तीनो लोको मे रहते हैं ?

उत्तर–मैं केवल तिर्यक् लोक मे रहता हूं। (यह विशुद्ध नैगम नय का वचन है)

प्रश्न–तिर्यक् लोक में जम्बूद्वीप से लेकर स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त असख्य द्वीप समुद्र हैं, तो क्या आप उन सभी मे

रहते हैं ?

उत्तर–मैं जम्बूद्वीप मे रहता हूं। (यह विशुद्धतर नैगम नय है)

प्रश्न–जम्बूद्वीप मे ऐरावतादि दस क्षेत्र हैं, तो क्या आप उन सभी मे रहते हैं ?

उत्तर–मैं भरत क्षेत्र मे रहता हूँ। (विशुद्धतर नैगम)

प्रश्न–भारतवर्ष के दो खंड हैं–दक्षिणार्द्ध और उतरार्द्ध, तो क्या आप उन दोनो मे रहते हैं ?

उत्तर–मैं दक्षिणार्द्ध भारतवर्ष मे रहता हूँ। (विशुद्धतर नैगम)

प्रश्न–दक्षिणार्द्ध भारतवर्ष मे भी अनेक ग्राम, आकर, नगर, खेडे, शहर, मण्डप, द्रोणमुख, पत्तन, आश्रम, संवाह, सन्निवेश आदि स्थान हैं, तो क्या आप उन सभी मे रहते हैं ?

उत्तर–मैं पाटलीपुत्र मे रहता हूँ। (विशुद्धतर)

प्रश्न–पाटलीपुत्र मे अनेक घर हैं, क्या आप उन सभी घरो मे रहते हैं ?

उत्तर–मैं देवदत्त के घर मे रहता हूँ। (विशुद्धतर नैगम)

प्रश्न–देवदत्त के घर मे अनेक कमरे हैं, क्या आप उन सभी कमरो मे रहते हैं ?

उत्तर–मैं मध्य के कक्ष मे रहता हूँ।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व की अपेक्षा से विशुद्धतर नैगम नय के मत से वसते हुए को रहता हुआ माना जाता है। यदि वह अन्यत्र भी चला जावे, तो भी वह जहां का निवासी होगा वहां

का ही माना जायगा।

इसी प्रकार व्यवहार का मत है, किन्तु विशेषता इतनी है कि जब तक वह अन्यत्र अपना स्थान निश्चय न कर ले तब तक उसके लिये यह कहा जाता है कि अमुक पुरुष, इस समय पाटलीपुत्र मे नही है और जहाँ जाता है, वहाँ पर ऐसा कहते हैं, कि—पाटलीपुत्र का वसने वाला अमुक पुरुष यहाँ आया हुआ है। लेकिन वसते हुए को वसता हुआ मानना, यह दोनो नयो का मन्तव्य है।

संग्रह नय, जब कोई अपनी शय्या मे शयन करे, तभी उसे वसता हुआ मानता है, क्योकि चलना आदि क्रिया से रहित होकर शयन करने के समय को ही सग्रह नय वसता हुआ मानता है। सग्रह नय सामान्य ग्राही है, इसलिये उसके मत से सभी शय्याएँ एक समान हैं।

ऋजुसूत्र नय के मत से शय्या मे जितने आकाश प्रदेश अवगाहन किये हुए हैं, वह उन्ही पर वसता हुआ माना जाता है, क्योकि यह नय वर्तमान काल को स्वीकार करता है, अन्य को नही। इसलिये जितने आकाश प्रदेशो को किसी ने अवगाहन किया है, उन्ही पर वह वसता है—ऐसा ऋजुसूत्र नय का मत है। शब्द, समभिरूढ और एवभूत—इन तीनो नयो का ऐसा मन्तव्य है कि सब पदार्थ अपने स्वरूप मे रहते हैं।

इसी प्रकार प्रदेश के विषय मे भी दृष्टात है। सभी नय अपने-अपने मत की सत्यता का कथन करते हैं। ये सातो नय निरपेक्षता से वर्णन करने पर दुर्नय हो जाते हैं और परस्पर

सापेक्ष होने पर सुनय-सत्य रहते हैं। इनका सापेक्ष कथन ही जैनमत है। जैन-दर्शन अनेक नयात्मक है।

स्तुतिकार कहते हैं कि-'हे नाथ! जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्र में मिल कर एकत्रित होती है, उसी प्रकार आपके मत मे, सभी नय एक साथ मिल जाते है। किंतु जिस प्रकार समुद्र किसी नदी मे नही समाता, उसी प्रकार आपके मत का किसी एक नय मे समावेश नही होता।

नयो के स्वरूप को समझ कर अपनी दृष्टि शुद्ध रखनी चाहिए।



पूज्य बहुश्रुत श्रमणश्रेष्ठ का प्रवचन

परम उपकारी जिनेश्वर भगवत ने जीवो के लिए जो उपदेश दिया, वह हमे यथार्थरूप मे समझना चाहिए। जिनेश्वर भगवंत खेदज्ञ थे। वे जीवो के खेद-दुख को जानते थे। जो खेदज्ञ होता है और साथ ही वीतराग एवं यथार्थ दृष्टा होता है, वही हितकर मार्ग बता सकता है। जो खेदज्ञ नही हो, वह स्वार्थ, हास्य, द्वेष एव ईर्षा के कारण सही मार्ग जानता हुआ भी उन्मार्ग बता देता है। केकिन्द और जशवन्ताबाद के लोगो मे कुछ झगडा था। यदि कोई अनजान व्यक्ति, किसी को मार्ग पूछता, तो उलटा मार्ग बता देते, इससे पथिक भटक जाता। मै जब दिशावर से आया और रास्ता पूछा, तो मुझे नही

पहिचाना और उलटा मार्ग बता दिया। दूसरे व्यक्ति ने मेरा नाम और परिचय पूछा। मेरे बताने पर उसने सोचा–'अरे, यह तो मुलतानमलजी (जिन्होने दीक्षा ली) का लडका है।' इसके बाद उसने सही मार्ग बताया। मै मार्ग से अपरिचित था, तभी पूछा। यदि मार्ग का जानकार होता, तो पूछता ही क्यो ? जो खेद को नही जानते, वे उटपटाग मार्ग बता देते हैं। चोर और लुटेरे भी पथिक को उन्मार्ग बता कर लूट लेते हैं। ठगने के लिए वस्तु का मूल्य गलत बताया जाता है। कई अज्ञान के कारण भी उन्मार्ग बतलाते हैं।

वास्तव मे आत्मोत्थान का सही मार्ग, वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी ही बता सकते हैं। वे खेदज्ञ हैं। भगवान् ने वस्तु का स्वरूप समझाने के लिए, सप्त-नय और सप्त-भंगी का स्वरूप बताया। एक वस्तु मे अनेक धर्म पाये जाते हैं। वस्तु अनन्त धर्मवाली है। हमारी दृष्टि सीमित है। हम किसी एक वस्तु के सभी धर्म नही जान सकते, कुछ खास-खास धर्म ही जान सकते है। उन मुख्य धर्मों को जानने-समझने के लिए भगवान् ने नयवाद और सप्तभगी का विधान किया, विविध अपेक्षाओ से वस्तु को देखने का विवेक प्रदान किया। जो वस्तु एक अपेक्षा से अस्तित्व रखती है, वही दूसरी अपेक्षा से नास्तित्व भी रखती है। अपनी अपेक्षा से अस्तित्व और पर की अपेक्षा नास्तित्व। वर्त्तमान पर्याय का अस्तित्व और भूत-भविष्य की पर्याय का नास्तित्व। जीव की वर्त्तमान, मनुष्य पर्याय का अस्तित्व और भूतकाल की नारक, तिर्यञ्च और देव पर्याय का नास्तित्व।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, शरीर, इन्द्रियाँ, सहनन, सस्थान, योग आदि अनेक अपेक्षाओ से जीव का और शब्द, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, सस्थान, गुरुलघुत्व, अगुरुलघुत्वादि की अपेक्षा पुद्गल का स्वरूप समझाया गया है। यदि कोई कहे कि मनुष्य ही जीव है, या जो चल-फिर सके वही जीव है, अथवा जिसके शरीर हो, वही जीव है, तो यह एकान्तवाद होगा और मिथ्या होगा। वास्तव मे मनुष्य भी जीव है और अन्य गतिवाले एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक तथा अनिन्द्रिय अशरीरी सिद्ध भी जीव है। शरीर और जीव एक भी है और भिन्न भी है। द्रव्यात्मादि आठ भेद, जीव के १४ और ५६३ भेद, ये सभी विभिन्न अवस्थाओ तथा अपेक्षाओ से विचारे जाते हैं।

एक जीव, विभिन्न अपेक्षाओ से पिता, पुत्र, भाई, दादा, पोता, दोहित्र, भानजा, ससुर, जामाता, मित्र, शत्रु, स्वामी, सेवक आदि अनेक सम्बन्ध रखता है। भूतकाल मे सभी सम्बन्ध जोड चुका है। इस प्रकार एक ही जीव, एक अपेक्षा से एक, और अनेक अपेक्षाओ से अनेक सम्बन्ध रखता है। एक अपेक्षा से कथन करते समय अन्य अपेक्षाएँ अव्यक्त रहती है, उन गौण की हुई अपेक्षाओ का निषेध करना मिथ्या हो जाता है।

जमाली ने अपेक्षा वचन का निषेध किया था, इसलिए वह मिथ्यात्वी बना। आगम मे नरक के नैरयिक को ही 'नारक' नही कहा, परन्तु नरक से बाहर रहे हुए जीव को भी 'नारक' कहा है। जिस मनुष्य या तिर्यञ्च ने नरकायु का बन्ध किया और अपने मनुष्य या तिर्यञ्च आयु को पूर्ण कर नरक की ओर

गमन कर रहा है, उसे मार्ग मे ही (नरक मे उत्पन्न होने के पूर्व ही) नारक कहा गया। भूतपूर्व मन्त्री, भावी तीर्थंकर, वर्त्तमान आचार्य आदि शब्द, काल की अपेक्षा रखते हैं। छोटे-बडे का व्यवहार, उम्र, पद और सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है। काका, भतीजे से उम्र मे बड़ा भी होता है और छोटा भी, परन्तु सबध मे बड़ा ही रहता है। आचार्य, दीक्षा और वय मे बडे भी होते हैं और छोटे भी, किन्तु पद मे, अन्य साधु से बडे होते हैं। यहाँ तक कि सासु लगने वाली स्त्री, कही-कही बहू की उम्र से छोटी भी होती है और अनुभव मे भी छोटी होती है, किंतु पद मे वह बडी होती है। इस प्रकार सापेक्ष वचन, सत्य होता है, किन्तु निरपेक्ष वचन मिथ्या होते है।

असयम और सयम एक प्रकार का भी है और सतरह प्रकार का भी। चार महाव्रत की प्ररूपणा भी हुई और पाँच की भी। सख्या मे अन्तर, किन्तु परिणाम मे कुछ भी अन्तर नही।

"एगे आया"—आत्मा एक है। यदि इस शब्द को ही पकड कर एकान्तवादी बन जाय, तो अनर्थ हो जाय। फिर तो हिंसा-अहिंसा का विचार ही नही रहेगा। जब समस्त ससार मे एक ही जीव मान लिया, तो मारने वाला कौन और मरने वाला कौन? पिता कौन और पुत्र कौन? स्त्री कौन और पुरुष कौन? स्पष्ट है कि अपेक्षा वचन को निरपेक्ष एकान्त मान लिया जाय तो अनर्थ होगा। ज्ञान और क्रिया—दोनो को मानने वाला अनेकान्ती और मात्र ज्ञान को ही मान कर, क्रिया का निषेध करने

वाला अथवा मात्र क्रियावादी बन कर ज्ञान का निषेध करने वाला मिथ्यादृष्टि होता है। वस्त्र सीने मे सूई भी आवश्यक है और धागा भी। इसी से वस्त्र पहनने योग्य बनता है। भोजन बनाने मे भी आटा, दाल, नमक आदि सामग्री, चूल्हा, लकड़ी, बर्त्तन आदि साधन और बनाने वाली का ज्ञान तथा बनाने की क्रिया, इन सब का मेल हो, तभी भोजन बनता है। केवल आटा ही हो और पानी आदि अन्य साधन तथा क्रिया नही हो, तो रोटी कैसे बनेगी ?

तात्पर्य यह कि वस्तु को विविध अपेक्षा से समझना अनेकान्त है। एक अपेक्षा से कथन किया जाय, वहाँ अन्य अपेक्षा गौण होती ही है, क्योंकि एक साथ एक ही अपेक्षा बतलाई जा सकती है। उस समय अन्य अपेक्षाएँ अवक्तव्य रहे, तो कोई हानि नही, क्योंकि वहां अन्य अपेक्षाओ का निषेध नहीं है और निषेध नही है, तो वह अनेकान्त है, सुनय है। यदि अन्य अपेक्षाओं का निषेध किया जाय, तो वह दुर्नय होकर मिथ्यावाद हो जाता है। दुर्नय छोड कर सुनय का आश्रय लेना हितकारी है। इस प्रकार जो भव्य जीव, सम्यग्ज्ञान का आश्रय लेकर सम्यग् चारित्र का पालन करेंगे, उनकी आत्मा का कल्याण होगा।

मेरा वक्तव्य

अनेकान्त के विषय मे अब तक पर्याप्त विवेचन हो चुका है। मैं इस विषय मे विशेष क्या कहूंगा ? अनेकान्त की भी

मर्यादा है। वह प्रमाण का अनुसरण करता है, प्रमाण का साधक है। प्रमाण के लिए बाधक बनने वाला अनेकान्त, सम्यक् नही हो सकता। कहा भी है कि–

"नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः।" (प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ५७०–१)

अर्थात् सिद्धान्त मे कहे हुए प्रत्यक्षादि प्रमाणो मे विषय रूप बने हुए अर्थ के अशरूप और इतर अंशो की ओर उदासीनतापूर्वक अभिप्राय, 'नय' है।

इससे यह फलित होता है कि नय के रूप मे स्वीकार करने योग्य वही विषय होता है, जो–प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान प्रमाण से बाधित नही हो। यह भी कहा है कि–

"प्रमाणप्रवृत्त्युत्तरकालभाविपरामर्शविशेषरूपत्वं नयस्य लक्षणम्"

अर्थात्–प्रमाण की प्रवृत्ति के बाद के काल मे (प्रमाण द्वारा वस्तु का निर्णय होने के बाद) उसके प्रत्येक धर्म का विशेष रूप मे विचार करना 'नय' है। (पृ ६५)

तत्त्वार्थराजवर्तिक मे भी कहा है कि–

"प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः।"

अर्थात्–प्रमाण से प्रकाशित हुए अर्थ की विशेष प्ररूपणा करने वाला नय है।

सप्तनय और सप्तभंगी, प्रमाण को अनुसरण करने

वाले हैं।

अनेकान्तवाद का पहला रूप सप्तनय है, तो दूसरा है सप्तभगी, जिसे 'स्याद्वाद' भी कहते हैं। सप्तनय मे वस्तु का, वस्तु की अपनी अपेक्षा से स्वरूप समझना मुख्य है, तब सप्त-भंगी मे स्व-पर–उभय अपेक्षा से वस्तु को समझा जाता है। प्रत्येक वस्तु मे अनेक धर्म रहे हुए हैं। सर्वज्ञो के ज्ञान मे प्रत्येक वस्तु अपने मे अनन्त धर्म रखती है। उसका परिचय भी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ से होता है। जैन दर्शन ने वस्तु स्वरूप समझने के लिए स्याद्वाद की दृष्टि प्रदान की है। इस दृष्टि से वस्तु का स्वरूप समझ मे आ जाता है।

स्याद्वाद के मूल भग दो हैं–१ स्याद् अस्ति=कथचित् है और २ स्याद् नास्ति=कथचित् नही है। अर्थात् अपेक्षा भेद से अस्तित्व-नास्तित्व बताने वाले दो भंग है, जैसे–'जीव कथचित् शाश्वत है और कथचित् अशाश्वत है' (भगवती ७–२) तथा लोक, क्षेत्र की अपेक्षा अन्त सहित है और काल की अपेक्षा अन्त रहित है' आदि। इसमे लोक की सान्तता, अनन्तता की अस्ति–नास्ति स्वीकार की गई है। इन दो भेदो के अतिरिक्त तीसरा 'अवक्तव्य' भंग भी मूल ही है, किन्तु यह उपरोक्त दोनों भगो की अपेक्षा रखता है। 'स्याद् अवक्तव्य' भग यह बताता है कि–अस्ति–नास्ति भी पूर्ण रूप से नही कही जा सकती। वस्तु की कुछ ऐसी अवस्था भी होती है कि जिसका वर्णन कर सकना अशक्य होता है। आचारांग १–५ मे लिखा है कि 'मुक्तात्मा का स्वरूप बताने मे शब्द की भी शक्ति नही है।' इन तीन

भंगों से दूसरे चार भग उत्पन्न हुए, जिससे यह सप्तभगी कहलाई। वे सात भग इस प्रकार है।

१ स्याद् अस्ति–कथंचित् है।

२ स्यान्नास्ति–कथंचित् नही है।

३ स्याद् अस्ति नास्ति-कथंचित् है और नही भी।

४ स्याद् अवक्तव्य–कथचित् कहा नही जा सकता।

५ स्याद अस्ति अवक्तव्य–कथचित् है, पर कहा नहीं जा सकता।

६ स्यान्नास्ति अवक्तव्य–कथचित् नही है, पर कहा नही जा सकता।

७ स्याद अस्तिनास्ति अवक्तव्य–कथंचित् है नही है, फिर भी कहा नही जा सकता।

इन सात भंगो को ही सप्तभगी कहते हैं। प्रत्येक वस्तु पर सप्तभगी लागू हो सकती है। जैसे–

१ जीव की जीव के रूप मे अस्ति है।

२ जीव मे जड की अपेक्षा नास्ति है, क्योकि वह जड नही है।

३ इन दोनो भगो के मिलने से तीसरा (मिश्रित) भग वना अर्थात् जीव, जीव है, जड नही।

४ जीव है, वह जड नहीं है, यह वात एक साथ नहीं कही जा सकती, क्योकि जिस समय अस्तित्व कहा जाता है उस समय नास्तित्व नही कहा जाता, और जिस समय नास्तित्व कहा जाता है उस समय अस्तित्व नही कहा जाता। एक ही

वस्तु कही जाती है और दूसरी रह जाती है। इसलिए अवक्तव्य' नाम का भेद हुआ।

५ जीव है, फिर भी कहा नही जा सकता। यह भंग बताता है कि जीव अनन्त धर्मों का भण्डार है। उन सभी धर्मों को बताने वाले न तो पूरे शब्द हैं, और न कह सकने की शक्ति ही है। थोडे धर्म कहे जाते हैं, और बहुत से रह जाते हैं। कितने ही गुण ऐसे हैं, जो अनुभव तो किए जाते हैं, किन्तु कहने मे नही आते। जैसे 'घृत' के स्वाद का अनुभव तो होता है, किन्तु शब्द द्वारा उसका स्वाद बताया नही जासकता, न मानसिक सुख-दु ख आदि का पूरा वर्णन ही किया जा सकता है। इसलिए अस्तित्व के अवक्तव्य को बताने वाला यह पाँचवाँ भेद है।

६ इसी प्रकार जीव की, जड की अपेक्षा नास्ति भी सम्पूर्ण रूप से नही कही जा सकती।

७ अस्ति-नास्ति भी एक समय मे एक साथ नही कही जा सकती।

अस्ति और नास्ति, ये दो परस्पर विरोधी धर्म एक द्रव्य मे कैसे रह सकते हैं? यह प्रश्न स्वाभाविक है, किन्तु ऊपर बताये अनुसार अपेक्षा भेद से दोनो विरोधी धर्म, एक वस्तु मे घटित हो सकते हैं।

प्रत्येक वस्तु की 'स्व चतुष्टय' (अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) की अपेक्षा अस्ति है और 'पर-चतुष्टय' की अपेक्षा नास्ति है। जैसे—१ द्रव्य से—जीव, जीवद्रव्य रूप से अस्तित्व रखता है, २ क्षेत्र से—जीव असंख्यात प्रदेश वाला और

असख्य आकाश प्रदेश मे रहा है, ३ काल से—जीव भूतकाल में भी था, वर्त्तमान मे है और भविष्य मे भी रहेगा और जीव का जीवत्व रूप है—परिणमन, पर्याय परिवर्त्तन, विविध पर्यायो की वर्त्तना, गति, जाति, आयु स्थिति आदि का प्रारम्भ, मध्य और अन्तकाल, सिद्धो का 'प्रथम समय सिद्ध, अप्रथम समय सिद्ध, सादि अपर्यवसित आदि जीव की स्वकाल की अपेक्षा अस्ति है और ४ भाव से—जीव की अपने ज्ञान, दर्शन, वीर्य, आनन्द अथवा औदयिकादि छ· भाव से अस्ति है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की स्व-द्रव्यादि की अपेक्षा अस्ति और पर-द्रव्यादि की अपेक्षा नास्ति है।

एक वस्तु मे दूमरी अनेक दृष्टियो से अनेक प्रकार का अस्तित्व-नास्तित्व रह सकता है। जैसे एक व्यक्ति, पूर्व मे भी है, पश्चिम मे भी है, उत्तर मे भी है और दक्षिण मे भी है। जो उसके पीछे खडा है, उसकी अपेक्षा वह पूर्व मे है, और आगे खडे व्यक्ति की अपेक्षा पश्चिम मे है, दाहिनी ओर खडे व्यक्ति की अपेक्षा उत्तर मे और वायी आर खड़े व्यक्ति की अपेक्षा दक्षिण मे है। पर्वत पर खडे व्यक्ति की अपेक्षा नीचे, कूएँ या खदान वाले की अपेक्षा ऊर्ध्व दिशा मे और समभूमि पर तिर्छी दिशा मे माना जाता है। ये सभी अपेक्षाएँ भिन्न दृष्टियो से से सही है।

एक व्यक्ति स्वय बेटा भी है, काका, मामा, भानजा, भाई, ससुर, साला, जमाई, पति, वहनोई, फूफा आदि अनेक सम्बन्ध रखता है और सभी सम्बन्ध अपेक्षा भेद से सत्य है,

अस्तियुक्त है। किंतु ये ही सम्बन्ध अपेक्षा-भेद से नास्ति रूप बन जाते हैं, जैसे—वह अपने बाप की अपेक्षा बेटा है, किन्तु पुत्र की अपेक्षा नही, मामा की अपेक्षा भानजा है, काका की अपेक्षा नही। इस प्रकार अपेक्षा भेद से प्रत्येक वस्तु अस्ति-नास्ति युक्त सिद्ध होती है।

धर्मास्तिकाय अरूपी ही है और चलन गुण युक्त है। वह रूपी और स्थिर गुण वाला नही है। इसमे अस्ति भी निश्चित् है और नास्ति भी निश्चित है। दोनो दृष्टियां भिन्न होने से अनेकान्त है और यही सम्यग् एकान्त भी है, क्योकि धर्मास्तिकाय मे अरूपो और चलन-सहाय गुण का निश्चित् रूप से स्थापन और रूप तथा स्थिरत्व गुण का निषेध कर रहा है, जो सत्य ही है।

जीव, ज्ञान गुण युक्य है। जड मे न तो ज्ञान है, न वह आत्मा ही है। जीव कभी भी जीवत्व का त्याग कर सम्पूर्ण जड रूप नही बन सकता और जड, कभी जीव नही बन सकता। मोक्ष, अक्षय अनन्त सुखो का भण्डार है, वहा दु ख का लेश भी नही है। इस प्रकार अनेकान्तवाद, सत्य निर्णय देने वाला, सम्यग् एकान्त से युक्त है। इसमे मिथ्या एकान्त को स्थान नही है।

वास्तव मे वस्तु को सही रूप मे विभिन्न दृष्टियो से समझाने के लिए अनेकान्त एक उत्तमोत्तम सिद्धात है। इसे सशयवाद कहना भूल है। और इसका दुरुपयोग करना मिथ्यात्व है। आजकल अनेकान्त का दुरुपयोग करके भ्रम फैलाया जा रहा है। यह मिथ्या प्रयत्न है।

वस्तु को विविध अपेक्षाओ से जानने के लिए अनेकान्त-वाद उपयोगी है। किन्तु आचरण मे अनेक दृष्टियाँ नही रहती। वहां तो एक लक्ष्य, एक पथ, एक साधना, एक आराध्य और एकाग्रता ही कार्य साधक बनेगी। यदि संयम पालन मे एक लक्ष नही रहा और आचरण मे अनेकान्तता अपनाई, तो लक्ष्य की सिद्धि नही हो सकेगी। अनेकान्त के नाम पर मिथ्यात्व, अविरति, असाधुता और ध्येय की विपरीतता नही चलाई जा सकती। हेय, हेय है, उपादेय, उपादेय है। अनेकान्त के नाम पर हेय को उपादेय बताने वाले विचार, स्वीकार करने के योग्य नही है। एक की आराधना ही सफलता प्राप्त करवाती है। गुण-स्थानो को चढ़कर और श्रेणी का आरोहण कर, वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तथा सिद्ध दशा, वे ही प्राप्त कर सकते हैं—जो अपने ध्येय मे दृढ-निश्चल रहकर प्रगति करते हैं।

अनेकान्त के नाम पर "सर्व धर्म समभाव" का प्रचार करने वाले भ्रम मे है। वर्त्तमान मे कई वक्ता और लेखक, अनेकान्त का मनमाना अर्थ लगाकर, अनर्थ करते हुए श्री जिन-धर्म को दूषित करते हैं। उनसे सावधान रहना चाहिए। वास्तव मे मोक्षार्थियो के लिए—सम्यग्दृष्टियो के लिए, जिनेश्वर भगवत का मार्ग ही उपादेय है। इसी मार्ग से शाश्वत सुखो की प्राप्ति हो सकती है, अन्य मार्गों से नही। इसमे भी सम्यग् अनेकान्त रहा हुआ है। जैसे—जिनमार्ग मे धर्म की अस्ति, अधर्म की नास्ति, उत्थान की अस्ति, पतन की नास्ति, इत्यादि। इस प्रकार सम्यग् रूप से अनेकान्त का उपयोग कर जीवन को

उन्नत बनाना चाहिए।

नोट—इसके बाद २४–६–६७ का दसवां दिन, शिविर का परिसमापन दिन था, उस दिन उपसंहार के रूप मे वक्तव्य हुए और शिविर सानन्द पूर्ण हुआ।

शिविर समापन

[प० श्री मुनीन्द्रकुमारजी जैन, पाली]

काल यह शिविर का समाप्त हो गया,
ज्ञान का सुबोधि लाभ बीज बो गया ॥ टेर ॥
गुरुवर की अनुकम्पा भारी, वाणी वर्णन क्या कर पाये ?
गुड मीठा होता है फिर भी, कैसे क्या गूगा बतलाये ?
भक्ति गुरुदेव की अपार दे गया। ज्ञान.. ॥१॥
श्रमणश्रेष्ठ समरथ मुनिवर को, क्या जाना क्या पहिचाना ?
सयम मय जीवन क्या होता, यह जाना और पहिचाना।
चारित्र भी आज यहां साकार होगया। ज्ञान... ॥२॥
ज्ञानामृत का पान करा कर, गुरुवर ने है प्यास मिटाई।
पर न मिटी वह प्यास है गुरुवर, ऐसी तुमने प्यास बढाई।
इन चरणो का उपकार होगया। ज्ञान . ॥ ३ ॥
छोटे-से पडित प्रकाश मुनि, ज्योति किरण है ज्योतिर्मय की।
कहा मिलेगी भव्य छटा यह, छिटक रही जो ज्ञानोदय की।
बीज जो रहा था आज वृक्ष हो गया। ज्ञान. . ॥४॥

तपसी राज मुनि चम्पालालजी से जप-तप मे रमना सीखा।
कठिन कर्म का घट क्षण-क्षण मे, कैसे रिक्त करे यह सीखा।
तप का जो तेज है प्रकट होगया। ज्ञान.. ॥५॥
मुनि-मडल गुरुवर का सारा, ज्ञान-क्रिया का उपवन सुन्दर।
कुसुमित है चारित्र गुणो से, सुयश-सुवास-सुवसित शुभतर।
खीचन का ग्राम तीर्थराज होगया। ज्ञान.. ॥६॥
सुश्रावक श्री मालूजी की, कृष्ण सरीखी धर्म-दलाली।
श्री डोशीजी ने भी पिलाई, अद्‌भुत अनुपम रस की प्याली।
छोटी-सी कहानी इतिहास होगया। ज्ञान... ॥७॥
भले कही भी हम जायेंगे, ज्ञान क्रिया के साथ चलेगा।
प्रकट सत्य जहँ करना होगा, पाव हमारा नही रुकेगा।
हमको यह आत्म-विश्वास होगया। ज्ञान.. ॥ ८ ॥
अविनय और अशातन हमसे, जाने और अनजाने हुई जो।
क्षमाश्रमण कर देंगे क्षमा, यह हमने अपनी बात कही जो।
करे क्या भरोसा-क्षमा दान होगया ? ज्ञान... ॥९॥

समाप्त

संघ के प्रकाशन

	मूल्य	पोस्टेज
१ मोक्षमार्ग ग्रंथ	अप्राप्य	
२ भगवती सूत्र भाग १	५—००	१—७०
३ भगवती सूत्र भाग २	५—००	१—७०
४ भगवती सूत्र भाग ३	५—००	१—७०
५ भगवती सूत्र भाग ४	५—००	१—८०
६ उत्तराध्ययन सूत्र	२—००	०—४०
७ उववाइय सुत्त	२—००	०—४५
८ जैन स्वाध्यायमाला	अप्राप्य	
९ दशवैकालिक सूत्र	१—२५	०—३५
१० अंतगडदसा सूत्र	अप्राप्य	
११ स्त्री प्रधान धर्म	अप्राप्य	
१२ सुखविपाक सूत्र	०—२०	०—१०
१३ प्रतिक्रमण सूत्र	०—१६	०—१०
१४ सामायिक सूत्र	०—०७	०—१०
५१ सूयगडाग सूत्र	अप्राप्य	
१६ सिद्धस्तुति	०—४०	०—१०
१७ जैन सिद्धात थोक संग्रह भाग १	अप्राप्य	
१८ नन्दी सूत्र	२—५०	०—५५
१९ आलोचना पंचक	अप्राप्य	
२० ससार-तरणिका	०—५०	०—१५
२१ सम्यक्त्व विमर्श	१—००	०—३०
२२ आत्मसाधना संग्रह	अप्राप्य	
२३ पच्चीस बोल का थोक	अप्राप्य	
२४ लघुदण्डक	अप्राप्य	

वसित' वर्ग मे है। सिद्ध भगवंत 'सादि-अपर्यवसित' भग मे है। 'सादि-सपर्यवसित' भंग भव-पर्याय की अपेक्षा है।

विचारक अपने विषय मे सोचता है कि—'मैं भव्य हूँ या अभव्य ?' इसका निश्चित् निर्णय तो सर्वज्ञ कर सकते हैं, किन्तु ज्ञानियो ने भव्य का लक्षण वताते हुए कहा है कि—भवे खेद अन्तर दया.. ..जिसके हृदय मे भव-भ्रमण का खेद हो, अरुचि हो, जिसके मन मे यह जिज्ञासा उत्पन्न हो रही हो कि—"मैं मोक्ष प्राप्त करने योग्य—भव्य हूँ या नही" आदि, ऐसे जीव को व्यवहार-दृष्टि से 'भव्य' कहा है। निश्चित निर्णय तो केवलज्ञानी के अधीन है।

सिद्ध पद अनादि काल से है, किन्तु कोई भी सिद्ध अनादि काल से नही है। प्रत्येक सिद्ध भगवन के सिद्ध-पद प्राप्त करने की आदि है। सिद्ध-पद अनादि काल से है और अनादि-काल से सिद्ध होते आये हैं। ऐसा कोई काल नही कि जब सिद्धो का अभाव रहा हो। सिद्ध भगवंत अनंत है। वनस्पतिकाय को छोड कर शेष जितने भी त्रस-स्थावर जीव है, उन सब को मिला कर भी अभव्य जीव अधिक—अनन्त गुण है और अभव्य जीवो से सिद्ध भगवंत अनन्त गुण है। सिद्ध भगवतो से अनन्त गुण जीव, वनस्पतिकाय मे ही हैं।

द्रव्य की अपेक्षा जीव नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य। हमारे मानव-भव की आदि और अंत है, किन्तु इस भव मे रहे हुए हमारे जीव की आदि अंत नही है। यह अनादि-निधन; शाश्वत, नित्य एवं अव्यय है।

अन्यमतावलम्बी आत्मा को शरीर प्रमाण नही मान कर कोई अंगुष्ठ प्रमाण मानता है और कोई सर्व-व्यापी। यदि अंगुष्ठ प्रमाण ही माना जाय, तो शेष शरीर मे स्पर्शानुभव नही होना चाहिये। यदि सर्व व्यापक माना जाय, तो शरीर के वाहर रहे हुए विभिन्न नारकादि भावो का अनुभव भी होना चाहिए। किन्तु प्रत्यक्ष ही यह वात असत्य दिखाई दे रही है।

कूटस्थ-नित्य मानने पर अनेक वाधाएँ खडी होती है। कूटस्थ का अर्थ है–"**प्रतिनियतस्वरूपाप्रच्युतिरूपत्वं कौटस्थ्यम्**"–प्रतिनियत स्वरूप का स्थिर रहना, उसमे किसी प्रकार का परिणमन एवं परिवर्त्तन नही होना–ठोस ही रहना 'कूटस्थ' है और 'नित्य' का अर्थ है–"**अप्रच्युतानुपपन्नस्थिरैकस्वभावं नित्यम्**"–उत्पत्ति एव विनाश से रहित, स्थिर तथा एक ही स्वभाव वाला 'नित्य' कहलाता है। अर्थात् जो द्रव्य सदैव स्थिर ठोस एवं अपरिवर्त्तनीय हो, जिसमे किसी भी प्रकार का, कभी भी परिवर्त्तन नही होता हो, वह कूटस्थ-नित्य है।

आत्मा को कूटस्थनित्य–सदैव एक ही स्वरूप मे अपरिवर्तनीय मानने वालो की वात तो प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध स्पष्ट दिखाई देती है। यदि आत्मा सदैव शाश्वत, एक ही रूप मे रहता होता, उसमे किञ्चित्मात्र भी परिवर्तन नही होता, तव तो यह वात सत्य होती। किन्तु जीव, गर्भ मे आता है, जन्म लेता है। वाल, शैशव, युवा आदि अवस्थाएँ प्राप्त करता है, मरता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है, हँसता, रोता, सोता, जागता, मूर्ख, विद्वान्,

प्रबुद्ध, मूर्छित आदि विभिन्न अवस्थाओ का अनुभव करता है, छोटे से बडा होता है, सकुचित-विकसित होता है, फिर कूटस्थ-नित्य कैसे रहा ? जिसके ज्ञान, समझ, अनुभव एव भावो मे विविध प्रकार का परिणमन होता रहे, वह भी क्या कूटस्थ-नित्य हो सकता है ?

प्रतिक्षण विनाशी मानना भी भूल है। पर्याय मे परि-वर्त्तन होते हुए भी जीव-द्रव्य शाश्वत ध्रुव एव नित्य है। बालक था तो वही और बडा हुआ तो भी वही जीव है। जन्म-मरण, गति, भवादि परिवर्त्तन मे भी जीव तो वही है। वह वर्षो पुरानी बाते तथा अनुभव स्मृति मे रखता है। यदि जीव स्वयं प्रतिक्षण विनाशी होता, तो पिछली स्मृति नही रहती। अतएव आत्मा को परिणामी-नित्य मानना ही उचित है। वह उत्पाद और व्यय पर्याय से युक्त होते हुए भी द्रव्य के रूप से ध्रुव है, शाश्वत है, नित्य है। प्रत्येक आत्मा का हित इसी मे है कि अशुद्ध पर्यायो का त्याग कर शुद्ध पर्याय प्राप्त करे।



पूज्य बहुश्रुत श्रमण-श्रेष्ठ का प्रवचन

जीव द्रव्य के विषय मे अभी आपने सुना है। भेदानुभेद का वर्णन दोनो मुनियो ने किया है। जीव-द्रव्य का विषय बहुत विशाल है। सारा तत्त्वज्ञान, जीव सम्बन्धी विभिन्न अपेक्षाओ से सम्बन्धित है। और है भी जीव के ही लिए। अजीव द्रव्य भी

जीव से अपेक्षाकृत सम्बन्ध रखता है, इसलिए जीव सम्बन्धी विवेचन मे इसका भी यथास्थान उल्लेख होता है। वक्ता किसी अपेक्षा को लक्ष्य कर बोलता है। जीव सम्बन्धी विविध अपेक्षाओ का वर्णन, एक व्यक्ति से एक वक्तव्य मे नही हो सकता। मैं भी अमुक अपेक्षा से ही बोलूंगा।

बहुत से लोग सन्देह करते हैं कि–"जीव है भी, या नही ?" इस प्रकार की शंका करने वाला जीव ही है। जड को शका नही होती। आश्चर्य है कि जीव स्वय अपने-आपके विषय मे सन्देहशील बन रहा है। कहा है कि–

'चेतन नी शका करे, चेतन पोते आप।
शंका नो करनार ते, अचरज एह अमाप।"

इस प्रकार की शका एकेद्रियादि असंज्ञी जीवो को नही होती। उन विचारे साधनहीन जीवो मे चिन्तन-मनन करने की योग्यता ही नही है। इस प्रकार की खोटी-खरी शका-कुशका, विकसित मनवाला प्राणी ही कर सकता है। मैं यहा मनुष्यो मे उठती रहती शका के विषय मे कह रहा हूँ। इस प्रकार अपने ही विषय मे शका भी उदयभाव से होती है। ज्ञानावरणीय और दर्शन-मोहनीय के विशेष उदय से अपने अस्तित्व के विषय मे ही सन्देह उत्पन्न हो जाता है।

एक अफीमची यदि अफीम अधिक मात्रा मे लेता है, तो वह पीनक मे इतना खो जाता है कि उसे अपनेपन का भी भान नही रहता। एक ऐसे ही अफीमची साहब पलग पर बैठे हुए ऊँघ गए और झुक कर नीचे गिरपड़े। उनके गिरने से हुई

आवाज को सुनकर खुद ही पुकार उठे–"अरी ओ बाँदी ! जरा चिराग ला कर देख तो, कौन गिर गया है ?" बाँदी आकर देखती है और हँसती हुई नवाब बहादुर को उठा कर पलंग पर बिठाती है। वे नवाब साहब अफीम की पीनक मे अपनत्व भूले हुए थे। इसी प्रकार शकाकार भी अपने अस्तित्व के विषय मे सन्देह करता है, वह दर्शन मोह के मद मे मत्त होकर अपने अस्तित्व से ही सन्देह करता है–अनास्था रखता है। अज्ञान दशा मे वह अफीमची की तरह अपने-आपको नही समझता, किंतु समझदारो की दृष्टि मे यह कोई भेद की बात नही है।

जीव मे चेतना शक्ति है, सुख-दुःख का अनुभव करने का विशेष एव असाधारण गुण है। बगीचे के पौधो लताओ और वृक्षो को पानी नही मिले, तो कुम्हला जाते हैं–मुरझा जाते हैं, पौधे लटक जाते हैं। किन्तु पानी मिलते ही वे उसे शीघ्र ही अपने मे खिच लेते है और विकसित होने लगते है, हरेभरे हो जाते हैं। आम, पीपल, बड आदि वृक्षो की जडे, कठोर भूमि मे बहुत गहरी–ऊँडी और तिरछी दूर तक चली जाती है, किन्तु हम अपना हाथ या अंगुली भी वैसी पृथ्वी मे नही उतार सकते। उन वृक्षो मे कितनी शक्ति है ? वे कठोर पृथ्वी मे भी अपनी राह बना लेते हैं, किन्तु अज्ञान के प्रगाढ उदय से वे समझते नही। छोटा बच्चा भूख लगने पर रोता है और माँ जब उठाती है, तो आकुलतापूर्वक दूध पीने की चेष्ठा करता है, परन्तु वह यह नही समझता कि माँ क्या है, भूख क्या है और अपनी भूख किस प्रकार व्यक्त करनी चाहिए। वह न तो माता का अर्थ जानता

है, न भूख का अर्थ और न उपाय ही जानता है। सत्ता मे होते हुए भी अभी ऐसी शक्ति विकसित नही हुई। वह रोना जानता है। अपनी क्षुधावेदनीय का उदय वह रोकर व्यक्त करता है। उसके पास रोने के लिए मुंह है। इसलिए रो कर भी वह अपना दु ख व्यक्त कर सकता है। भूख ही नही, मूत्र करने से विस्तर गीला हो जाने पर उसे ठण्डक लगती है, तव भी वह रो कर अपना अभिप्राय वतला देता है और माता उसका भाव समझ लेती है। विचारे एकेन्द्रियो के पास तो मुंह भी नही है। वे अपना दु ख कैसे व्यक्त करे ? फिर भी समझदार लोग उनके मुरझाने और विकसित होने से उनके दु ख-सुख को कुछ समझ लेते हैं। वच्चे की चेतना-शक्ति पेड-पौधो से विशेष विकसित है। बच्चा कुछ वडा होने पर मुंह से वोल कर अपना अभिप्राय व्यक्त कर सकता है। उसमे चेतना-शक्ति थी। वह विकसित होगई। वह मातृ-भाषा मे वोलने लगता है। जिसके सम्पर्क में रहता है, उसकी भाषा मे बोलने लगता है। चाहे हिन्दी हो, या गुजराती, मराठी या अंग्रेजी। धीरे-धीरे वह पढ-लिख कर विद्वान् भी हो जाता है। यह गुण जीव की चेतना-शक्ति का है—जो जन्म तथा गर्भ से ही उसके साथ थी। सुख-दु ख का वेदन और हास्य, रति, अरति, भय आदि भी उस आत्मा के साथ लगे हुए हैं। आपने देखा होगा कि—नींद लेते हुए भी कभी-कभी वच्चा हंसता है और कभी रोता है तथा भय से सिहरता भी है। भगवतीसूत्र मे तो वनस्पतिकाय के भी हंसने का उल्लेख है।

आत्मा, भूत भविष्य और वर्त्तमान—तीनो काल की वात

जानता है। जानना आत्मा का गुण है, शरीर या इन्द्रियो का नही। इन्द्रियाँ तो साधन मात्र है। आपने वर्षों पूर्व कोई विशेष दृश्य देखा, महत्वपूर्ण बात सुनी, विशिष्ठ गन्धानुभव किया और विशेष प्रकार का इष्ट-अनिष्ट स्पर्शानुभव किया, वह आपको आज भी याद है। याद कौन रखता है? आँख ने देखा, तो क्या आँख याद रखती है? सुनने वाला कान याद रखता है? नासिका को स्मृति है? नही, यह स्मृति जीव की है—आपकी आत्मा की है। यह आत्मा के अनुभव गुण का प्रत्यक्ष स्वानुभूत प्रमाण है। मृत्यु हो जाने के वाद शव मे आँख-कान आदि सभी वैसे ही रहते हुए भी देखने सुनने आदि का कार्य नही हो सकता, क्योकि दर्शक-श्रोता-भोक्ता आत्मा था, वह नही रहा। वह देह छोडकर चला गया। इससे सिद्ध है कि जीव है, और जीव के विषय मे सन्देह करना अज्ञान है। जिस प्रकार देह और इन्द्रियाँ क्षणभगुर है, उस प्रकार आत्मा नही है। जीव-द्रव्य नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है, एव अविनाशी है। इसका मूल गुण भी शाश्वत है। न तो शरीर जीव है, न इन्द्रियाँ ही। ये जीव के अधीन—जीव से सम्वन्धित होने के कारण अपेक्षापूर्वक इन्हें जीव कह सकते हैं। किन्तु मूल स्वरूप मे जीव इनसे भिन्न स्वतत्र द्रव्य है। शरीर इन्द्रियाँ और मन रूपी है, पुद्गल है और आत्मा अरूपी है। अनुभव गुण वाला है।

कई वार ऐसा होता है कि निकट से पुकारने पर भी मनुष्य नही सुनता। उसके पास होकर विशाल प्रदर्शन निकल जाय, तो भी मनुष्य, आँख होते हुए भी नही देखता। क्यो, क्या

कारण है इसका। जब कि आँख-कान वैसे ही निर्विकारी मौजूद है? इसका यही कारण है कि उसका उपयोग किसी एक विषय मे एकाग्रतापूर्वक लगा हुआ था। जब वह एकाग्र नही था, तब तो दूर की सामान्य आवाज भी सुन लेता था। उसकी श्रवणेन्द्रिय तेज है। वह दूर के छोटे दृश्य भी सरलता से देख सकता है। इस पर विचार करने से भी आत्मा की शरीर से पृथक् सत्ता का बोध हो सकता है।

कई आविष्कारक अनुसन्धानकर्त्ता अपने कार्य मे एकाग्र हो जाते हैं, तो उन्हे यह भान ही नही रहता कि कितना समय व्यतीत हो गया? मैंने भोजन किया या नही, या मेरा भोजन कोई दूसरा ही कर गया? वह अपने कार्य मे ही मग्न है। उसे बाहरी दुनिया का ध्यान ही नही रहता। स्वनाम धन्य पूज्य श्री ज्ञानचन्द्रजी म सा के गुरु पूज्य श्री जीवराजजी महाराज, बेले-बेले की तपस्या करते थे। उनकी उस तपस्या मे इतनी तल्लीनता (स्वाध्यायादि भाव-तप युक्तता) रहती थी कि उन्हे पारणे के दिन की याद ही नही रहती। वे भूल जाते कि आज मेरे पारणे का दिन है +। उन्हे संत पूछते—'बापजी ! पारणो लानो है।" तो वे पूछते—"मारे आज पारणो है कईं ?"

मेरे खुद के अनुभव की एक बात मैं आपको सुनाता हूँ। अजमेर श्रमण-सम्मेलन (प्रथम) के समय स्व श्री लच्छी-

+तपस्वीराज श्री चम्पालालजी म भी जब प्रार्थना या उपदेशदान में तल्लीन हो जाते है, तो उनके भी तेले के तप के पारणे का समय निकल जाता है, किन्तु उनका उस ओर ध्यान ही नही जाता—स.।

रामजी सा. साँड का एक पत्र श्री हेमचन्दभाई रामजी (काँ. के तत्कालीन अध्यक्ष) मुझे सुना रहे थे। मै वात भी कर रहा था और पत्र भी सुन रहा था। इस प्रकार वह पत्र दो तीन वार सुनाया, परन्तु मुझे कुछ मालूम नही हो सका। क्योकि मेरा चित्त दूसरी ओर था और उस पत्र का विषय मेरा अपना नही था। इस प्रकार एक ओर की रुचि और दूसरी ओर की उपेक्षा, जीव की शरीर से भिन्नता और उपयोग गुण को प्रकट कर रही है। उनके शब्द कानो को स्पर्श करते हुए भी आत्माने ग्रहण नही किये। तपस्याकाल पूर्ण हो जाने पर भी पारणे का ध्यान नही रहना आदि स्थितियाँ आत्मा का अस्तित्व सिद्ध कर रही है। ये सब बाते जीव का पृथक् अस्तित्व एव भिन्न द्रव्य होना सिद्ध करती है। समझने के लिए इतनी सरल बाते सामने होने पर भी जीव-द्रव्य के विषय मे सन्देह रखना, अपने-आपको धोखे मे रखना है।

आप लोग साधारण व्यवहार मे भी अपनी आत्मा को व्यक्त करते है। जैसे—आप भोजन कर रहे हैं, किसी ने आपको वाहर से पुकारा। उसकी आवाज आपने कानो से सुनी। आपने उस से कहा- "मै अभी भोजन कर रहा हूँ। थोडी देर मे आऊँगा।" या—"आओ, पधारो, भोजन करो।" या,—"मै फिर मिलूगा।" आदि। अब विचार करो कि सुनने का साधन कान हैं, परन्तु कान बोल कर भाव व्यक्त नही कर सकता। मुँह सुनता नही, परन्तु बोल कर भाव व्यक्त कर सकता है। किन्तु यह बताओ कि सुन कर, अवधारण कर, उत्तर निश्चित करने

और उस आगत को अपना अभिप्राय बतलाने को तत्पर होने वाला कौन है ? अभिप्राय किस का है ?–कान का ? मुंह का ? नही । आप स्वयं सुन कर उत्तर देते हुए अपने आत्म द्रव्य को प्रकट कर रहे हैं और सुनने वाला भी यही समझता है । "मैं खाता हूँ, पीता, सोता, जागता हूँ,"–इस प्रकार सोचते और व्यक्त करते समय आप अपनी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर रहे हैं । कोई सन्देहशील या नास्तिक व्यक्ति, यो आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नही करता, किन्तु अपने ऐसे व्यवहार से वह अपनी आत्म-सत्ता को प्रकट करता है । कान सुनता है, मुँह खाता है, जीभ स्वाद लेती है, नाक सूँघता है, परन्तु इन सब का अनुभव करने वाला और वर्षों तक याद रखने वाला तो जीव ही है, इन्द्रियाँ और शरीर याद नही रखता ।

गाय, भैंस, बकरी, घोडा और कुत्ता आदि पशु और तोता मैनादि पक्षी भी ज्ञानानुभूति रखते हैं । गाय-भैसादि जंगल से लौटने पर अपने पूर्व स्थान पर ही जाते हैं । सैकडो हजारो घरो मे से अपने घर को पहिचान लेते हैं । यदि दूसरा कोई अपने घर मे ले जाना चाहे, तो वे नही जाते या बडी कठिनाई से लेजाये जाते हैं । कई मारने वाले पशु, अपने परि-चित स्वामी को नही मारते, अपरिचित को मारते हैं । कुत्ता जिस घर में रहता हो, वहाँ वह अपरिचित व्यक्ति के आने पर भौंकता है और काटने को दौड़ता है । कई कुत्ते ऐसे भी होते है कि जिन चोरियो का पता मनुष्य नही लगा सकता, उनका वे तत्काल पता लगा लेते हैं । यह सब उन-उन मे रही हुई

आत्म-शक्ति का प्रमाण है ।

कोई मतवादी, ससार मे मात्र एक ही आत्मा मानते है । यदि वे जाति की अपेक्षा एक कहे, तब तो ठीक है, किन्तु वे तो वैयक्तिक दृष्टि से भी एक ही आत्मा मानते है । उनका कथन है कि भिन्न-भिन्न दिखाई देनेवाले शरीरो मे मात्र एक ही आत्मा निवास करती है, किन्तु यह मान्यता भी असत्य है । जीव विभिन्न रूपो, विभिन्न विचारो, विभिन्न अनुभवो और विभिन्न अवस्थाओ से युक्त है । वह एक कैसे हो सकता है ? मनुष्यो मे भी एक ही समय मे एक रोगी है, दूसरा निरोग, एक सम्पन्न है दूसरा विपन्न, एक सुखानुभव कर रहा है दूसरा दुःख भोग रहा है, एक धर्मध्यान मे मग्न है तो दूसरा रौद्रध्यान मे, एक दया लाकर रक्षा कर रहा है, दूसरा क्रूर बनकर घात कर रहा है, एक सेवा कर रहा है, दूसरा सेवा ले रहा है । इस प्रकार की विभिन्न अवस्थाएँ जीवो का पृथक्त्व बतला रही है । एक के मनोभाव या सुख-दुःखानुभूति दूसरे को नही होती, फिर एक कैसे माना जाय ?

एक विचारधारा जीव का अस्तित्व तो मानती है, किन्तु जीवनकाल तक ही । मृत्यु होने पर देह-नाश के साथ आत्मा का भी विनाश होना मानती है । यह मान्यता आत्मा को अमर तथा पूर्व एवं पुनर्भव नही मानती । इसे "तज्जीव-तच्छरीरवादी" कहते हैं । प्रदेशी राजा की मान्यता भी ऐसी थी, जिसे केशी-कुमार श्रमण महात्मा ने समझाया था । यदि तज्जीव-तच्छरीर-वादी की बात पर विचार किया जाय, तो प्रश्न होता है कि—

जीव की उत्पत्ति हुई कैसे ? किसने की ? किस वस्तु के द्वारा की ? यदि जड शरीर से उत्पत्ति होना कहे, तो शरीर तो अब भी मौजूद है, दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि–जड से चैतन्य की उत्पत्ति हुई क्या ? नही, यह असत्य बात है। जड से चैतन्य की उत्पत्ति नही होती। निर्जीव शरीर मे वह पदार्थ उपस्थित रहता ही है। जब वह गर्भ और बाल अवस्था के छोटे-से शरीर मे उत्पन्न होकर रह सका, तो बड़े शरीर मे तो विशेष अनुकूलता थी ?

यदि कहा जाय कि चैतन्य, जड से नही, चैतन्य से–ईश्वर से उत्पन्न हुआ, तो प्रश्न उपस्थित होगा कि 'जीव का उत्पादक ईश्वर कैसे और किससे उत्पन्न हुआ ? और वह ईश्वर ज्ञानी था या अज्ञानी ?' यदि सारा ससार ईश्वर ने बनाया, तो उसने लुच्चे, लफगे, चोर, डाकू और अपने ही (ईश्वर के) अस्तित्व का खण्डन करने वाले मनुष्यो को क्यो बनाया ? लोग पुत्र की इच्छा करते है। अच्छा, सुन्दर, स्वस्थ, बुद्धिमान और पराक्रमी बालक चाहते हैं, कुल-दीपक पुत्र चाहते हैं। कुरूप, बेडोल, मूर्ख, निर्बल और बुरा पुत्र कोई नही चाहता। यदि माता या पिता की चले, तो वे सर्वोत्तम पुत्र प्राप्त करे, तब ईश्वर होकर चोर लुच्चे और नास्तिक जीव उत्पन्न करे–यह कैसे हो सकता है ? यदि कहा जाय कि 'ईश्वर तो अच्छे जीव बनाना चाहता था, परन्तु वे अपने-आप बुरे बन गए।' यह उत्तर ईश्वर का महत्व घटाता है और ईश्वर की अशक्ति बता कर किसी अन्य शक्ति का महत्व बता रहा है। जब ईश्वर

को 'सर्वशक्तिमान्' माना जाता है, तो उससे वृग निर्माण हो जाना, उसकी सर्वशक्तिमत्ता मे बाधक है। इससे तो यह सिद्ध हो रहा है कि ईश्वर कमजोर है। उसकी इच्छा सफल नही होती।

मैं संसार मे था तब दिसावर गया था। कारणवशात् मै एक वकील के घर गया। वकील साहब घर मे नही थे। मैं बैठ गया। इतने ही मे एक मौलवी साहब आये। बात चलते उन्होने कहा—'खुदा के हुक्म के बिना एक पत्ता भी नही हिल सकता,' तब मैने कहा कि—"खुदा के हुक्म के बिना पत्ता हिलता है।" मौलवी साहब ने नही माना, तब मैने उनसे पूछा—"आप खुदा को सर्वशक्तिमान् मानते हैं और कहते है कि जो भी दिखाई देता है, वह सब खुदा का बनाया हुआ है। यह सब खुदा की करामात है और खुदा बडा बुद्धिमान् है। खुदा के हुक्म के बिना एक पत्ता भी नही हिल सकता। खुदा ने आपको भी बनाया और मुझे भी।" अब कहिये कि खुदा ने मुझे विपरीत बुद्धि क्यो दी? आपके मन मे खुदा के हुक्म के बिना पत्ता भी नही हिलने का विश्वास है और मै इस बात को नही मानता। अब बताइये कि खुदाने मुझे ऐसी विपरीत बुद्धि क्यो दी? मेरे जैसे अविश्वासी को बनाकर खुदा ने कौनसी बुद्धिमानी की? खुदा ने चोर को भी बनाया और साहुकार को भी। फिर चोर को देख कर भोकने वाले कुत्ते को भी बना-दिया। क्या उस खुदा को कोई अच्छा कहेगा, जो चोर को चोरी करने के लिए घुसने और कुत्ते को भोकने की प्रेरणा देता

है और साहुकार को सावधानी रखने की बुद्धि देता है ?"

मेरा प्रश्न सुनकर मौलवी साहब चुप रह गये। वे समझदार थे, सो चुप रह गए। दूसरा होता, तो वितण्डावाद करता। चाहे जैन हो, अजैन हो, हिन्दू या मुसलमान हो, सभी के सोचने की वात है कि–जीव का कर्त्ता ईश्वर को मानने पर चोर, जार, वेश्या, कसाई और क्षुद्र जतुओ का तथा नारको का वनानेवाला भी ईश्वर मानना पड़ेगा। इससे ईश्वर मे कई दोषो का अस्तित्व मानना पडेगा।

श्री जिनेन्द्र देव स्वय कहते हैं कि–मै भी जीव हूँ। पहले मै भी ससारी था और मैने अनन्त ससार परिभ्रमण किया। तुम भी ससारी जीव हो, अपने सुख-दु ख और जीवन-मरण का मूल कारण जीव स्वय है। अरिहंत मार्ग-दर्शक होते हैं, वैद्य की तरह। यदि जीव सन्मार्ग पर चले, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना करे, तो वह स्वय ईश्वर हो सकता है। जैन-धर्म मे अनन्त ईश्वर (सिद्ध) माने गये हैं।

जैन-दर्शन का सिद्धात है कि जीव और अजीव अथवा छहो द्रव्यो का न तो कोई कर्त्ता है, न हर्त्ता। ये स्वयभू (अपनी ही सत्ता से सम्पन्न) है, आज से नही–अनादि से और अनन्त काल–नित्य शाश्वत रहेगे। ये जीवादि द्रव्य अपनी ही शक्ति से अपना अस्तित्व कायम रख रहे है। अपने निज गुणो के स्वय ही स्वामी हैं। विभिन्न पर्यायें तो संयोगजन्य एव उदयभाव से है, जो बदलती रहती है। मूल पारिणामिक भाव शाश्वत हैं। अतएव जीव-द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना चाहिये और

उत्थान मार्ग पर चल कर अजरामर पद प्राप्त करना चाहिये।

मेरा वक्तव्य

(जीव-द्रव्य पर मैं वहा कुछ भी नही बोला था। उस दिन तपस्वीराज ने भी उपदेशदान किया था। समय अधिक हो जाने के कारण मेरा वक्तव्य नही हो सका। फिर भी प्रस्तुत विषय मे, आज कुछ विचार लिख कर पूर्ति कर रहा हूँ।)

जो लोग कहते हैं कि–'जीव की स्वतन्त्र सत्ता नही है। यह दिखाई देने वाली सब करामात पृथिव्यादि भूतो की ही है,' उन्हे बताना चाहिए कि–चिन्तन, मनन, अनुशीलन, हँसना, रोना, इच्छा, मूर्च्छा, स्मृति,,–ये सब किस भूत के गुण हैं? हिताहित का विवेक करना, सत्या-सत्य का निर्णय करना, अपने पराये का भेद तथा प्रयोग-प्रयत्नादि किस भूत के गुण हैं? ये गुण न तो पृथ्वी मे दिखाई देते, न पानी, अग्नि, वायु और आकाश मे। न पाँचो मे से किसी एक मे है, न पाँचो के मिश्रण मे। पाँचो भूतो के सद्भाव मे ही मृत्यु होती है। 'यदि भूतों से ही जीवन होता, तो भूतो के रहते मृत्यु नही होती। जब भूतो के रहते हुए भी मृत्यु हो जाती है, तब मानना होगा कि भूतेश्वर पृथक् था, उस का प्रयाण करजाना ही मृत्यु है। यदि कहा जाय कि भूतो मे क्षति हो जाने से मृत्यु होती है, तो यह भी ठीक नही है। भूतो की पूर्ति के कई करिश्मे वैज्ञानिक

करते हैं। एक कुत्ते का सिर काट कर दूसरे के धड से लगा कर जोड देते हैं, एक कुत्ते के दो सिर लगा देते हैं। मनुष्य की हड्डी, पसली और आँतें बदल देते हैं और अब तो हृदय तथा गुरदा भी निकाल कर दूसरा लगा देते हैं। इस प्रकार भूतो की त्रुटि या न्यूनता एव विकृति दूर कर दी जाती है। इससे जीवन चलता रहता है, किंतु गया हुआ जीवन नही लौट सकता, फिर वह भूत मुर्दा होकर नष्ट हो जाता है। यह जीव की पृथक् सत्ता का ज्वलत प्रमाण है। यदि भूतो मे से जीवन एवं जीव के गुण उत्पन्न होते, तो भूतो के रहते अथवा बदल कर पूर्ति करने पर जीवन उत्पन्न हो जाता। इससे प्रत्यक्ष सिद्ध है कि जीव, पुद्गल (-पृथिव्यादि भूतो) से पृथक् द्रव्य है।

भूतो की कमी से जीव, मरता हो, ऐसी बात नही है। हम देखते है कि कई मनुष्य, हाथ पाँव आदि कटजाने पर भी नही मरते। पक्षाघात होने और अर्द्ध अग शून्य होजाने पर भी वर्षों जीवित रहते हैं। सूख कर काँटा बने हुए व्यक्ति भी जीवित रहते हैं। अतएव भूतो की न्यूनता से ही मृत्यु होना मानना सत्य नही है।

(२) यदि जीव, भूतो मे से ही उत्पन्न होता, तो जिसका शरीर दुर्बल है, उसमे जीव, बुद्धि एवं अनुभवादि कम होते और जिसका शरीर स्थूल, मोटा और भारी है, उसमे जीव, बुद्धि एव अनुभवादि अत्यधिक होते। किन्तु दृश्य विपरीत भी दिखाई देते हैं। मुटापा भाररूप लगता है, इसे रोग माना जाता है और शरीर-शास्त्री मुटाई घटाने की सलाह देते हैं।

इससे भी सिद्ध है कि जीव, भूतो से सम्बन्धित होकर भी अपना पृथक् अस्तित्व रखता है।

इसके विपरीत कई दुर्बल दिखाई देनेवाले (कम भूतो वाले और वजन मे हलके) मनुष्य बुद्धिमान्, विचारशील, अनुभवी और बहुतो के मार्गदर्शक होते हैं। सामर्थ्य मे भी मोटे मनुष्य को पछाडनेवाले तथा विजयी होते हैं, नेता, प्रणेता तथा वन्दनीय भी होते हैं। यह विपरीतता आत्म-प्राथक्य प्रमाणित करती है।

(३) कई मनुष्यो के हाथ-पाँव कट-टूट जाते हैं, कई हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति, रोग से अत्यंत दुर्बल हो जाते हैं, फिर भी उनके जीवन, ज्ञान, अनुभव, स्मृति तथा विवेक मे न्यूनता नही होती। भूतो मे क्षति हो जाने पर भी जीव और उसके गुण यथावत् रहना, जीव की स्वतन्त्र सत्ता का स्पष्टीकरण है।

(४) भारतीय भूमि एव जलवायु मे जन्मा बालक, विदेशी के सम्पर्क मे रहने पर वही भाषा बोलने लगता है और भारतीय भाषा नही बोलता-नही समझता। यह स्थिति भी बतला रही है कि आत्मा, भूतो से पृथक् है, तथा वर्तमान भूतो से पहले का-पूर्व-जन्म का है। आत्मा मे जानने का असाधारण गुण है और उसका भवान्तर मे वैसी भाषा से सम्बन्ध रह चुका है। अतएव वह शरीर से भारतीय भूतो से निर्मित होकर भी विदेशी भाषादि के सस्कार अपना लेता है। यह स्थिति भी प्रकरण को पुष्ट करती है।

पूर्व-जन्म पुनर्जन्म

जीव का पुद्गल से पार्थक्य मान लेने पर भी कुछ विचार-धाराएँ जीव का पूर्वभव तथा पुनर्भव नही मानती। किन्तु यह भी विचारो की त्रुटि है। जीव न तो नया उत्पन्न होता है और न पहले का मरता या नष्ट होता है। जीव शाश्वत, नित्य, अक्षय, अमर एवं अविनाशी है। जन्म-मरणादि तो पर्यायो—अवस्थाओ का परिवर्तन है। जीव की अपनी विभाव परिणति के अनुसार, पुद्गल—भूतो का सयोग सम्बन्ध होता है। भूतो का संयोग-वियोग ही जन्म-मरण है, सुख-दु.ख है, गति-आगति है। जीव के वैसे सस्कार भी इस बात को स्पष्ट कर रहे है। बच्चा जन्मते ही रोता है, माँ का स्तन चूसता है, हँसता है और प्रकाश की ओर टकटकी लगाता है। यह रोना, स्तन-पान आदि वह कहा सीखा ? किस भूत के गुण है—ये ? वास्तव मे सब क्रियाएँ उस जीव के पूर्व-भव से परिचय मे आई हुई हैं। जैन सिद्धात बतलाता है कि—क्षुधा, पिपासा, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, घृणा, वेद, कषाय आदि सभी विभाव-परिणति जन्य संस्कार, जीव के साथ प्रवाह रूप से अनादिकाल से लगे हुए हैं और जबतक विभाव परिणति रहती है, तबतक रहते हैं। इन संस्कारो के समूल नष्ट हो जाने के बाद आत्मा, परमात्म पद प्राप्त कर लेती है। तात्पर्य यह कि बालक का हँसना, रोना, भूख लगने पर स्तन चूसना. तृप्ति होने पर छोड देना—इन सब प्रवृत्तियो से वह पूर्वभव से ही परिचित है। यदि पूर्वभव नही

होता, तो वह हँसना रोना आदि क्रियाएँ कर ही नही सकता। यह जीव के पूर्व-जन्म को समझने का प्रबल आधार है।

पूर्वभव की स्मृति हो जाने की अनेको घटनाएँ भारत और विदेशो मे बन चुकी है और वैसे लोगो मे भी कि जो पुनर्जन्म नही मानते। अब तो इस विषय मे खोज भी हो रही है।

एक आठ वर्ष की छोटी बालिका 'कल्पना' ने अपने कंठाग्र शास्त्र ज्ञान की स्मरण-शक्ति का वह प्रदर्शन किया कि जिसे देखकर राज्यपाल श्री गुरुमुखनिहालसिह और राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसादजी भी चकित होगए और उस आठ वर्षीय बालिका को 'महापडिता' की उपाधि से सम्मानित की। यह बात 'नवभारत टाइम्स' के २६-८-६० अक मे छपी है।

एक अनपढ निरक्षर २४ वर्षीय युवक 'कृष्णदत्त' सलेमानावाद (मुजफ्फर नगर) के विषय मे प्रसिद्ध हुआ कि वह निद्रावस्था मे अपनी विद्वत्ता से लोगो को चकित कर देता है। वह नीद मे धाराप्रवाह रूप से संस्कृत के श्लोक बोलता है, महाकाव्यो के अंश बोलता है, विशुद्ध हिन्दी बोलता है। किन्तु जागने पर वह यह सब भूल जाता है और अपनी मातृ-भाषा ही बोलता है (न भा. टा. २५-८-६४)

इस प्रकार और ऐसी अनेक घटनाएँ पूर्वभव की मान्यता सिद्ध करती है और यह वतलाती है कि उन आत्माओ ने यह ज्ञान पूर्व-भव मे प्राप्त किया था। उस ज्ञान पर आवरण उतना अधिक नही था, जो उसे अत्यंत आवरित करले और ज्ञानावर-

णीय के तथा प्रकार के क्षयोपशम ने उस अध्ययन को कुछ उद्घाटित कर दिया, जिससे उन्हे स्मरण हो जाता है। अन्यथा इस भव मे बिना पढे ही वे कैसे बतला सकते हैं ? ऐसी तो अनेक घटनाएँ प्रकाश मे आ चुकी हैं, जिनमे बालक द्वारा पूर्व-भव के सम्बन्ध बताए और जो सत्य सिद्ध हुए।

मृतात्माओ से सम्पर्क साधने की बातें भी प्रकाश मे आ चुकी हैं। 'नवभारत टाइम्स' के रविवारीय सस्करण जुलाई ६४ से अक्टूबर तक के अको मे उनका प्रकाशन भी हुआ है और उनके आधार पर स. द. ५-१०-६५ अक पृ ४६३ मे लिखा भी है। पूर्वभव मानने पर पुनर्भव अपने-आप स्वीकृत हो जाता है, क्योकि वर्तमान भव पूर्वभव है और मृतात्माओ से सम्पर्क भी पुनर्भव को मान्य कर रहा है।

उपरोक्त विचार, आत्मा की पुद्गल से पृथक् सत्ता सिद्ध कर रहे हैं। यदि आत्मा भी भूतोत्पन्न होती, तो वैज्ञानिक किसी को मरने ही नही देते। वे भूतो मे हुई कमी की, भूतो से पूर्ति करके अमर बना देते। इत्यादि विचारो से आत्मा की पुदगल से पृथक् सत्ता मानना ही चाहिये।



कर्म सिद्धांत

(चौथा दिन १८-६-६७)

मुनि श्री रत्नचन्द्रजी म० सा० का प्रवचन

आत्मा, जड से भिन्न स्वतन्त्र द्रव्य है। किन्तु ससारी आत्मा अपने काषायिक अध्यवसाय तथा शुभाशुभयोग से कर्म-वर्गणाएँ ग्रहण कर आबद्ध रहती आयी। बद्ध-कर्मो का अकाम-निर्जरण तथा बन्ध परम्परा अनादि काल से चलती आयी और अभव्य जीवो की अनन्त-अपर्यवसित काल चलती ही रहेगी। जो भव्य जीव है, वे सम्यक् आराधना से अपने कर्म बन्धनो को तोड कर मुक्त हो सकेगे। कर्म-बन्धनो से बचने और बद्धकर्मों की निर्जरा करने के पूर्व, कर्मों का स्वरूप समझना आवश्यक है। यही आज के वक्तव्य का विषय है।

सक्षेप मे कर्म के दो भेद है—घातिक और अघातिक। घातिक कर्म वे हैं, जो आत्मा के अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और सामर्थ्य गुण का घात करे, इन गुणो को दबाये रखे। अघातिक कर्म इन गुणो का घात नही करते। इनका परिणाम सुख-दु ख वेदन, आत्मा की शरीर, गति, जाति, इन्द्रिय, वर्ण, गन्धादि तथा आयु और गोत्र मिलाना है—शुभ और अशुभ दोनो। घातिक कर्मों के साथ हुए अघातिक कर्मों का अशुभ बन्ध जीव को दु खदायक होता है। घातिक कर्मों के सद्भाव मे वीतरागता एवं सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता प्राप्त नही होती। घातिक कर्म चार हैं—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ मोहनीय और ४ अन्तराय। इन चारो

मे प्रबल कर्म है—मोहनीय । मोहनीय कर्म ही अन्य तीनो घाती कर्मो को स्थायी बनाये रखता है । विना मोहनीय के शेष तीन कर्म, ठहर नही सकते और शीघ्र नष्ट हो जाते हैं । मोहनीय कर्म के सद्भाव मे अघातिक कर्म भी विशेषकर कटु परिणाम वाले हो जाते हैं और मोहनीय के अभाव मे ये जीवनपर्यन्त रह कर नष्ट हो जाते हैं ।

केवलज्ञानी भगवान् घातिक कर्मो से सर्वथा रहित होते हैं । दसवे गुणस्थान के अन्त मे मोहनीय कर्म नष्ट होकर उसी समय सीधे १२ वे गुणस्थान मे प्रवेश होता है । बारहवा गुणस्थान मात्र अन्तर्मुहूर्त रहता है । इसमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का एक साथ नाश हो जाता है । इन तीनो घाती कर्मो के नाश के साथ ही केवलज्ञान, केवलदर्शन और तेरहवा गुणस्थान प्राप्त हो जाता है ।

घातिकर्मों के सद्भाव मे केवलज्ञान केवलदर्शन नही होता और अघाती कर्मो के सद्भाव मे मुक्ति नही होती । समस्त कर्मो के सर्वथा अभाव ही से सिद्ध पद की प्राप्ति होकर अजरामर रूप, सादि-अपर्यवसित परमात्म पद प्राप्त होना है ।

कर्मो के आठ प्रकार हैं,—१ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय । प्रत्येक कर्म की स्थिति इस प्रकार है ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घाती-कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोटाकोटि सागरोपम जितनी है और मोहनीय कर्म की ७० कोटाकोटि सागरोपम की । वेदनीय

कर्म मे सातावेदनीय की उ० १५ कोटाकोटि सागर और असाता-वेदनीय की ३० कोटाकोटि सागर की। आयुकर्म की ३३ साग-रोपम, नाम और गोत्र कर्म की २० कोटाकोटि सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है। जघन्य स्थिति—चार घाती-कर्मों और आयु-कर्म की अन्तर्मुहूर्त। सातावेदनीय की सरागी के १२ मुहूर्त और वीतरागी के दो समय, असातावेदनीय की एक सागर के सात भाग मे से ३ भाग और पल्योपम के असख्यातवा भाग कम की और नाम तथा गोत्र कर्म की आठ मुहूर्त की है। आयुकर्म में नारक और देवो की जघन्य आयु दस हजार वर्ष, उत्कृष्ट ३३ सागर, मनुष्य और सज्ञी तिर्यञ्च की ज० अन्तर्मुहूर्त, उ० तीन पल्योपम। पाँच स्थावर, विकलेन्द्रिय असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय की ज० आयु अन्तर्मुहूर्त और उ०—पृथ्वीकाय की २२००० वर्ष, अपकाय की ७००० वर्ष, तेउकाय की ३ दिनरात, वायुकाय की ३००० वर्ष, वनस्पतिकाय की १०००० वर्ष, बेइन्द्रिय की १२ वर्ष, तेइन्द्रिय की ४९ दिनरात और चौरेन्द्रिय की छह मास है, असज्ञी तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय की जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट करोड पूर्व की है। सम्मूछिम मनुष्य की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

यह सब स्थिति कर्मजनित है। कर्मजनित स्थिति की आदि होकर अन्त भी होता है। सिद्ध भगवतो की स्थिति कर्म-जनित नही होकर स्वाभाविक है, इसलिए कर्म रहित अवस्था की आदि तो है, परन्तु अन्त नही होता। जन्म-मरण-सयोग-वियोगादि स्थितियां, कर्म से सम्बन्धित होने के कारण है। इनका

आदि अंत होता है।

ये आठ तो मूल प्रकृतियाँ हैं। इनकी उत्तर प्रकृतियाँ १४८ या १५८ हैं। ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ६, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयु की ४, नामकर्म की ९३ या १०३, गोत्रकर्म की २ और अन्तरायकर्म की ५। इनका विवेचन करने का अभी समय नही है।

सभी कर्मों मे मोहनीय कर्म भयकर है–"**णेहपासा भयंकरा।**" यद्यपि जन्म-मरणादि मे आयु कर्म प्रत्यक्ष रहता है, किन्तु इन सब मे रस प्रदान करता है–मोहनीय कर्म। मोहनीय के कारण ही शेष ७ कर्म दुखदायक बने हैं। यदि मोहनीय कर्म का अन्त हो जाय, तो शेष तीन घातीकर्म मिनटो में समाप्त हो जाते हैं और अघातिक भी जीवन के साथ समाप्त हो जाते है।

कर्मबन्ध के कारण हैं–आत्मा मे रहा हुआ–१ मिथ्यात्व २ अविरति, ३ प्रमाद. ४ कषाय और ५ योग। संक्षेप में आत्मा की कुदृष्टि, कुविचार और स्वच्छन्दता, कर्मबन्ध के कारण हैं और सुदृष्टि, सुविचार और सम्यक् नियन्त्रित वृत्ति (विरति) है। वन्ध रोकने का उपाय, जिसे जैन परिभाषा मे सम्यग् ज्ञान सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र कहते हैं। इनसे आत्मा सुरक्षित रहता है और मुक्ति की ओर बढता रहता है। सम्यक् तपाचरण से कर्मवन्धन टूटते हैं और आत्मा मुक्त होकर परमात्मा बन जाती है।

कर्मबन्ध भी चार प्रकार से होता है,–१ प्रकृति से,

२ स्थिति से, ३ अनुभाग से और ४ प्रदेश से ।

प्रकृति बन्ध—शुभाशुभ परिणामो से कर्मों का बन्ध भी शुभाशुभ होता है। किसी कर्म का स्वभाव, आत्मा के ज्ञान गुण को आवरित करने का है, तो किसी का दर्शन गुण को, कोई दुःख-दायक है, तो किसी का स्वभाव सुखप्रद है। इस प्रकार कर्मों का कर्त्ता के शुभाशुभ परिणामो के अनुसार स्वभाव—प्रकृति बन्ध है।

स्थिति बन्ध—आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध बना रहने की काल मर्यादा ।

अनुभाग बन्ध—कर्मो का रसप्रद होना । जीव के अध्यवसायानुसार कर्मो मे—मृदु, कटु, अम्लादि रसानुसार अच्छे बुरे रस का होना। वह शुभाशुभ रस भी मन्द, मन्दतर, मन्दतम, तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम-भावानुसार होता है। इसीसे सुख-दुःख का अनुभव होता है।

प्रदेश बन्ध—कर्मो के दलिको की न्यूनाधिकता। किसी के कम दलिक हो और किसी के अधिक। जिस प्रकार छोटा लड्डु, कम सामग्री और थोडे वजन का होता है और बडा लड्डू अधिक सामग्री और अधिक वजन का होता है, उसी प्रकार कर्मों के पुद्‌गलो की न्यूनाधिकता, प्रदेश बन्ध है। (यहा चारो भेदो को समझाने के लिए मुनिश्री ने लड्डु का दृष्टान्त कुछ विस्तार मे दिया था।

कर्मों की स्थिति और अनुभाग-बन्ध, जीव के कषाय भाव से होता है और प्रकृति तथा प्रदेश-बन्ध, योग से होता है। कषायभाव मे योगो की नियमा है, चाहे मात्र काययोग हो,

वचन और काययोग हो, या मन, वचन और काय—ये तीनों योग हो। किन्तु योग मे कषाय की भजना है। ग्यारहवे से तेरहवे गुणस्थान तक योग होता है, किन्तु कषाय नही है। विना कषाय के य.गमात्र मे पाप-प्रकृति का बन्ध नही होता। कषाय रहित केवल योगमात्र से दो सूक्ष्म समय का बन्ध होता है, वह एकदम रुक्ष और तत्क्षण निर्जरने वाला और वह भी सुख-प्रद—सातावेदनीय वाला होता है।

कुछ तार्किक पूछते हैं कि—'आप आत्मा को अरूपी वतलाते हो, चैतन्य कहते हो और कर्मों को जड पुद्गल तथा रूपी। तब प्रश्न होता है कि अरूपी चैतन्य, रूपी जड़ के साथ सम्बन्ध कैसे जोड लेता है ?

समाधान है कि ससारी आत्मा एकात अरूपी नही है, एकान्त अरूपो है—सिद्ध परमात्मा। ससारस्थ आत्मा कथचित् रूपी भी है। उसका सम्बन्ध विभिन्न प्रकार से रूपी पुदगलो से अनादि से चला आ रहा है। इस प्रकार का कर्मों और उसके विपाकादि से सम्वद्ध आत्मा, एकान्त अरूपी नही कहा जा सकता। जब तक आत्मा योग युक्त है, तव तक वह अन्य वस्तु का ग्रहण आसेवन तथा आदान-प्रदानादि करता है और इसी से वह आवद्ध-परिवद्ध होता है।

भंग, एक जड वस्तु है, नशा उसका गुण है, किन्तु न तो वह स्वयं नशे से थिरकती, किलकती और कौतुक करती है और न थेली, डिब्बी या वोतल आदि जड-पात्र मे भरी हुई, उस पात्र को ही कुदाती है, किन्तु जहा मोहनीयकर्माविष्ट आत्मा

से उसका सम्बन्ध हुआ कि वह अपना रंग दिखाती है। यही बात मदिरापान के विषय मे भी है। यह भिन्न द्रव्य के सयोग सम्बन्ध और उसके प्रभाव का प्रत्यक्ष दृष्टात है। एक बुद्धिमान् व्यक्ति भी इनके सेवन से मदोन्मत्त होकर मूर्ख जैसी चेष्टा करते दिखाई दे सकता है। जिन पवित्रात्माओ मे मोह का अश नही होता, उन पर भग भी कोई प्रभाव नही डाल सकती। क्योकि भग और मदिरादि का गुण मोह को प्रभावित करने वाला है। मद का ग्राहक मोह नही रहे, तो न तो मद चढता है, न कुचेष्टा होती है। मोह नाश, समस्त दु:खो का नाश है। अतएव कर्मबन्ध से मुक्त होने और अपने एकान्त अरूपी स्व-भाव–सिद्ध-पर्याय को प्रकट करने के लिए मोह को घटाना उत्तम पुरुषार्थ है। मोह की प्रबलता कम होने पर ही दृष्टि विकार हटता है, कुप्रवृत्ति कम होती है और आत्मा कर्मों के भार से हलकी होती हुई ऊर्ध्व-गामिनी होती है। इसलिए कर्मबन्धनो को रोकने और नष्ट करने के लिए ज्ञानादि चारो उपायो का सेवन करना चाहिए। यही मुक्ति का मार्ग है।

बहुश्रुत श्रमण-श्रेष्ठ का प्रवचन

भगवान् ने पुदगलो के भेद बताते हुए कर्म-पुद्गल भी बतलाये। पुद्गल अनेक प्रकार के हैं। कोई औदारिक वर्गणा के, तो कोई वैक्रिय-आहारादि वर्गणा के, कोई भाषावर्गणा के, तो कोई मनोवर्गणा के। इनमे कार्मण-वर्गणा के पुद्गल भी हैं।

कार्मण-वर्गणा के ग्राह्य पुद्गल ही जीवो के वन्धरूप में परिणत होते हैं। कर्म स्वत: जड है, रूपी एव वर्ण-गन्धादि युक्त है। ये समस्त लोकाकाश मे सर्वत्र भरे हैं। ये स्वयं—अपने-आप किसी के नही लगते। इनमे ऐमी शक्ति नही कि किसी आत्मा के साथ लग जायँ। आत्मा स्वयं ही कर्म-पुद्गलो को ग्रहण करती है। संसारी जीवो मे शुभ कर्म ग्रहण करने की इच्छा वाले ही मिलेगे, अशुभ—पापकर्मो का ग्रहण करना कौन चाहेगा ? कोई नही चाहता। पाप करता हुआ भी आत्मा, पुण्य-प्रकृति का वन्ध चाहता है, किंतु ऐसा नही होता। जीव के राग-द्वेषमय परिणाम ही कर्म-पुद्गलो का आकर्षण कर ग्रहण करते हैं। उन कर्म-वर्गणाओ का भावानुसार शुभाशुभ वन्ध होता है। जिस प्रकार खेत मे मिर्च का वीज भी डाला हो और गन्ने, अगुर आदि का भी। एक ही भूमि मे निकट ही मिर्च और गन्ने के वीज पडे हो, तो पानी वायु और भूमि से सत्व लेकर ऊग जाते हैं, वढते हैं और फलप्रद होते है। दोनो मे रस-भिन्नता होती है। एक तीखे रस वाली मिर्च होती है, तो दूमरा मीठे रस वाला गन्ना। एक बीज, जहरीकुचला वन जाता है और दूसरा आम्र-फल। यह भेद न तो भूमि ने डाला, न पानी, वायु या धूप ने। बीजो के अपने स्वभाव के अनुसार ही भूमि और पानी आदि परिणत हुए। इसी प्रकार जीव की अपनी शुभाशुभ परिणति ही कर्मवर्गणा को शुभाशुभ रूप मे ग्रहण करती है। जिस प्रकार वीज के अनुमार रस वनता है, उसी प्रकार आत्मा के शुभाशुभ परिणामो से शुभाशुभ कर्मबन्ध होता है। कर्म को शुभ या

अशुभ बनाना, जीव की भावपरिणति पर निर्भर है।

सभा मे से प्रश्न—जब कर्मो को ग्रहण करना हमारी अपनी परिणति पर निर्भर है और कर्म स्वतः आ कर हमारे नही लगते, तो हम कर्मो को ग्रहण करे ही क्यो ?

समाधान—हमको कर्म तो ग्रहण करना ही पडते हैं, क्योकि हम मे कषाय और योग विद्यमान है। हा, आप चाहे और सावधानीपूर्वक प्रयत्न करे, तो अशुभ-कर्मों का ग्रहण कम हो सकता है। इसी के लिए तो भगवान् ने मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग के त्याग का उपदेश दिया है। भगवान् ने जीवो को कर्म की जाल से सर्वथा मुक्त करने के लिए ही त्याग मार्ग बताया है। भगवान् का मार्ग अपना कर, आत्मा आगे बढती हुई सर्वथा मुक्त परमात्मा भी हो सकती है। अपनी परिणति एव प्रवृत्ति पर अंकुश नही रखने पर परिणाम भुगतना ही पडेगा। बालक, गरम दूध के बर्तन मे हाथ डाल देता है, किन्तु जलन होने पर रोता है। यदि पहले ही परिणाम का विचार होता, तो रोने का प्रसग नही आता। यदि कोई आँखो मे मिर्ची डाल ले, या भूल से मिर्ची लगी ऊँगली आँखो के लग जाय, तो जलन होती ही है। यदि चाकू से पेनसिल या गन्ना छिलते, असावधानी से ऊँगली कट जाय, कपडा सीते सूई चूभ कर खून निकले, दाढ़ी बनाते समय चमड़ी छिल-जाय, तो यह नही कहा जा सकता कि मिर्चे, चाकू, या सूई जबरदस्ती हमारे लग गई, उस्तरे ने आक्रमण कर दिया। यह तो खुद की भूल से हुआ है। इसी प्रकार कर्म भी आत्मा

के किये ही लगते हैं समझबूझ कर करे या अज्ञान से। जबतक उन पर विरति का अंकुश नही लगता, तबतक कमी नही होती।

आप लोग सयाने हैं। समझबूझ कर गरम दूध के पात्र मे हाथ नही डालते, किन्तु क्रोध के वशीभूत होकर कई सयाने मनुष्य भी उग्र हो जाते है, जोर-जोर से लडने लगते हैं, मारपीट हो जाती है, मुकदमे चलते हैं, कोई विषपान कर के मर भी जाते हैं। इसी प्रकार मान के कारण, मायाचार से, तथा लोभ के वश होकर अनर्थ कर डालते हैं। आत्मा, कषाय के वश होकर अशुभ बन जाती है। उसके मन, वचन और काया के योग भी अशुभ हो जाते हैं। बस, इसीसे कर्मवर्गणाएँ आत्मा के लग कर बँध जाती है।

कर्म जड हैं और रूपी पुद्‌गल हैं। ये रूपी होते हुए भी हमे दिखाई नही देते। यदि कोई कहे कि-'महाराज! कर्म रूपी है, तो हमे दिखाई क्यो नही देते? यदि दिखाई देते हो, तो हम इन्हे नष्ट करदें, किसी खड्डे मे डाल कर दबा दे, जला कर खाक बना दें, जिससे किसी को दुःख नही दे सके।' पुद्‌गल रूपी होते हुए भी इतने बारिक हैं कि हमारे जैसे साधारण ज्ञान वालो को दिखाई नही देते और न हाथो से पकडे जा सकते हैं। हम धूप को देखते हैं, किन्तु पकड नही सकते, न धूप पर बैठ सकते हैं। क्योकि धूप के पुद्‌गल दिखाई देते हुए भी, उस पर बैठना आदि नही हो सकता। हवा में उड कर आती हुई सुगन्ध-दुर्गन्ध को आप समझ लेते हैं, किन्तु पकड नहीं सकते और आंख से देख भी नही सकते, क्योकि गन्ध के पुद्‌गल

बारीक हैं। इसी प्रकार कर्म-पुद्गल भी बारीक हैं, उन्हे विशिष्ट अवधिज्ञानी और केवलज्ञानी ही देख सकते है।

एक छोटासा बतासा, मुँह मे रखने पर मुँह मीठा हो जाता है, किन्तु वही एक बतासा, पानी के वडे मटके मे डाल कर पिया जाय, तो वह मिठास लगेगी ?–नही, और कुएँ मे डाला जाय तो ? समुद्र मे तो हजारो-लाखो बतासे मिला दिये जायँ, तो भी मिठास नही लगती–जब कि बतासो की मिठास उसमे मिली हुई है। इसका क्या कारण है ? यही कि विरल पुद्गल होने से अधिक पानी मे उनका स्वाद दब गया–जो मनुष्य को मालूम ही नही होता। इसी प्रकार स्याही या किसी रग मे सूई की नोक डुबा कर कागज या कपडे पर लगाओ तो रंग दिखाई देगा, परन्तु वह सूई की नोक, कोठी भरे पानी मे डुबा दी जाय, तो कुछ भी रग दिखाई नही देता। कारण यही कि अत्यल्प पदार्थ दिखाई नही देते।

आम का पौधा वढता है, वालक भी छोटे से वडा होता है, माथे के वाल और नाखुन भी वढते हैं। इनका बढना सभी जानते हैं। यदि कोई व्यक्ति पौधे, बालक या हाथ के नख पर दृष्टि जमाकर बैठ जाए और देखे कि किस प्रकार बढता है, तो दिखाई देगा क्या ? नही, प्रति समय बढती हुई वस्तु भी हमारी दृष्टि मन्दता या चर्म-चक्षु के विषय के बाहर होने से दिखाई नही देती, फिर कर्म-पुद्गल कैसे दिखाई दे सकते हैं ? पौधा, बालक, केस और नाखुन तो आठ फरस वाले है, ये भी दिखाई नही दे, तो चार फरस वाले कर्म-पुद्गल कैसे दिखाई

दे सकते हैं ?

कर्म-बन्ध का मूल कारण आत्मा का विकारी भाव—राग-द्वेष है—"**रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति**"—राग और द्वेष ही कर्म के बीज हैं। राग-द्वेष, मोहनीय कर्मवाले के होते हैं। मोह से ही कर्म उत्पन्न होते हैं और कर्म से ही जन्म, मरण, रोग, शोकादि दु:ख होते हैं। कर्मों का मूल—बलवान् कारण रागद्वेष है। योग तो सामान्य कारण है। योग से जो बन्ध होता है, वह मन्द होता है। यदि आत्मा की भाव-शुद्धि हो जाय, तो बन्ध, मन्द होते-होते सर्वथा रुक जाय। अकषायी जीवों के योगमात्र से दो समय की स्थिति वाला शुभ बन्ध ही होता है और अयोगी के तो बन्ध होता ही नही।

कर्म का बन्ध, आत्मा की परिणति के अनुसार होता है। कर्म, जीव के छोटे-बड़े या पद प्रतिष्ठा का लिहाज नहीं करता। चाहे राजा हो, प्रधान-मन्त्री हो, राष्ट्रपति हो, साधु हो, या आचार्य ही हो, कर्म तो परिणति के अनुसार ही लगेगे। यदि बडा आदमी विष पान करे, तो उसे भी जहर चढता है और छोटा आदमी करे, तो उसे भी चढता है। विष किसी का लिहाज नही करता—"जहर सुधा समझे नही, जीव खाय फल थाय"—वैसे ही कर्म भी किसी के बडप्पन या पद-प्रतिष्ठा का लिहाज नहीं करते। श्लाघनीय उत्तम पुरुषों को भी कर्म का कटु फल भोगना ही पड़ा है।

कर्म का फल भी कर्त्ता को ही भोगना पडता है। फल भोग मे कोई सहायक बन कर विभाजन नही करा सकता।

राजा-महाराजा और राष्ट्रपति को ज्वर हो जाय, तो उनके हजारो सेवक तथा लाखो रक्षक हैं, फिर भी वे रक्षक उनके दु:ख का विभाजन नहीं करा सकते। इसी प्रकार कर्मों के कटु विपाक का फल कर्त्ता को भोगना पडता है।

लोक मे सभी जगह कर्म-वर्गणाएँ भरी हुई हैं। जहाँ सिद्ध परमात्मा हैं, उन आकाश-प्रदेशो में भी कर्म-वर्गणाएँ ठसाठस भरी हुई है, किन्तु सिद्ध भगवान के नही लगती। क्योकि सिद्धात्मा परमपवित्र है, निर्मल है, निर्विकार एव निष्कम्प है। उनमे कर्म ग्राहक अध्यवसाय नही है, इसलिए उन्हे कर्म नही लगते, किंतु उन्ही आकश-प्रदेशो मे अनन्त सूक्ष्म जीव हैं, उनके प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म-वर्गणाएँ बँधी हुई है और प्रति समय बँधती रहती है।

यद्यपि कर्म-वर्गणाएँ सर्वत्र भरी है, परन्तु वे सभी हर-किसी के नही लगती, अध्यवसायानुसार लगती है, बँधती है और समय पूर्ण होजाने पर, अथवा उचित उपायो से पृथक् हो जाती है। एक स्थान पर एक तपस्वी महात्मा स्वाध्याय या ध्यान मे लीन हैं और उनके निकट एक गृहस्थ, सुन्दर स्त्री को देखकर भावो मे विकृति ला रहा है, तो महात्मा के तो बद्ध-कर्मों की निर्जरा हो रही है, किन्तु गृहस्थ विशेष पाप कर्म बांध रहा है। एक कर्म की निर्जरा अधिक करता है, तो दूसरा बन्ध अधिक करता है। यह स्वाभाविक बात है।

कर्म-वर्गणाओ से बद्ध होती हुई भी आत्मा, कर्मों से कथचित् भिन्न है, कर्म और आत्मा एकमेक—तादात्म्यरूप नहीं

हो जाते। एक दीपक एक बड़े कमरे मे रखा है, उससे कमरा प्रकाशित हो रहा है, उसके बाद दूसरा दीपक फिर लाकर रखा गया, उसका प्रकाश भी उसी मे समा गया। यो ३, ४ यावत् सो दो सौ दीपक रखे जायँ, तो सभी का प्रकाश, उस बड़े कमरे (हाल) मे समा जाता है। अब कहिये कि उन सभी लालटेनो का प्रकाश पृथक्-पृथक् है या परस्पर आबद्ध होकर उलझ गया है? वास्तव मे सभी का प्रकाश पृथक् पृथक् है। उन लालटेनो मे से कोई अपना एक लालटेन उठाकर चल दे, तो उसका प्रकाश भी उसके साथ चला जायगा। इससे सिद्ध है कि जिस प्रकार सैकड़ों दीपक एकत्रित होने पर भी सभी का प्रकाश भिन्न-भिन्न है, उसी प्रकार अध्यवसायानुसार कर्म का बन्ध प्रत्येक प्राणी के होता है, फिर भी कर्म-वर्गणाएँ आवरण-रूप कथचित् भिन्न रहती है, आत्मा के साथ सर्वथा तदात्म्य नही हो जाती। दीपक को पृथक् करने पर उसका प्रकाश भी पृथक् हो जाता है, शक्कर मे पानी मिलने से पानी जैसी हो जाती है। वह हमे भी पानी दिखाई देती है, परन्तु वह तदाकार नही बनती, अग्नि के प्रयोग से पानी जल कर फिर शक्कर बन जाती है, उसी प्रकार सम्यग् साधना से कर्म-वर्गणाएँ आत्मा से पृथक् हो जाती है। कर्मों का देशतः पृथक् होना 'निर्जरा' कहलाता है और सर्वथा पृथक् हो जाना 'मोक्ष' है।

यदि बद्ध कर्मों की निर्जरा नही हो और मुक्ति भी नही हो, तो साधना की आवश्यकता ही क्या रहे? अहिंसा, संयम, तप, ज्ञान-ध्यानादि की आवश्यकता ही क्यो रहे? कर्म-

पुद्गल जिस प्रक्रिया से बँधते हैं, उसके विपरीत आचरण से टूटते भी हैं। बधते हैं–मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से और सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय एव शुभ योग से टूटते है "भित्तुण कम्मकंचुय"–कर्मरूपी कचूली फाड कर आत्मा स्वतन्त्र हो जाती है। फिर न रहती है कषाय और न रहते हैं योग। आत्मा सिद्ध–परमात्म दशा को प्राप्त कर लेती है।

कुछ लोग मानते है कि 'परमात्मा, परमात्मा ही रहेगे और सकर्मी जीव, सदा सकर्मी ही रहेगे।' किन्तु यह मान्यता गलत है। भगवान्, तीर्थंकर या सामान्य-केवली, पहले सभी सकर्मी ही थे। अनन्त सिद्ध भगवान् सिद्ध होने के पूर्व सकर्मी थे। वे नरक-निगोद तक के दुःख भुगत चुके थे। सम्यग् आराधना से वे सिद्ध परमात्मा बने। भगवान महावीर देव ने कहा है कि "जिस आराधना से मैंने अपने कर्मों को नष्ट कर आत्म-विशुद्धि की, उसी आराधना से अन्य प्राणी भी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।"

लोहे का गोला, आग मे डालने पर गर्म हो जाता है, अग्निमय हो जाता है। वह तबतक गर्म रहता है, जबतक कि आग मे रहता है। आग से अलग होने पर वह ठण्डा होने लगता है और फिर पूर्ण रूप से ठण्डा हो जाता है। इसी प्रकार सकर्मक आत्मा भी कषायरूपी आग से पृथक् हो जाय, तो वीतराग होकर परमात्म पद प्राप्त कर लेती है।

आत्मा के काषायिक भाव से कर्मों का आत्मा मे आना–

'आश्रव' है, सम्बन्ध जुडना–'वन्ध' है। शुभ वन्ध–'पुण्य' है और अशुभ वन्ध पाप है। 'पुण्य के कारण सद्‌गति और सुख सामग्री मिलती है और पाप से दुर्गति तथा दु खमय दशा प्राप्त होती है। कर्मों के वन्ध को विरति आदि से रोकना–'संवर' है, कर्म को तप से पृथक् करना 'निर्जरा' है और कर्म से सर्वथा पृथक् हो जाना–'मुक्ति' है।

कर्म-वन्ध के फल स्वरूप भवान्तर और गत्यन्तर होता है। यदि हम सही दृष्टि से देखे, तो हमें पूर्वभव के प्रमाण यही मिल सकते हैं। सांप का छोटा-सा संपोला (वच्चा) भी क्रोध कर के डक मारने की चेष्टा करता है। वह वच्चा क्रोधपूर्वक डंक मारना कहाँ सीखा? छिपकली का वच्चा जन्म के थोड़ी देर वाद ही मच्छरादि पर मुँह चलाकर खाना कहा सीखा? उसे किसने शिक्षा दी कि मच्छरादि को इस प्रकार पकड और ऐसे खा? वास्तव मे क्रोध की उग्रता के भावो मे उस जीव ने सांप का भव प्राप्त किया। मनुष्य का वच्चा, साधारण छेडने पर इतना क्रुद्ध होकर दस देने के लिए वार नही करता किन्तु सांप का वच्चा क्रुद्ध होकर मुँह मारता है। मछली का वच्चा जन्मते ही तैरने लगता है। कहाँ सीखा वह तैरना? सिह के वच्चे को पजा उठाकर वार करना किसने सिखाया? यह सब पूर्वजन्म के पापो का परिणाम है। इसी प्रकार वर्त्तमान भव के पापो का फल भी यहा और परभव मे मिलता है। अगला जन्म, वर्त्तमान भव मे किये हुए शुभाशुभ वन्ध का परिणाम होगा।

कोई मनुष्य जन्म से रोगी, कोई निरोग, कोई दुर्वल,

कोई बुद्धिमान तो कोई बुद्धिहीन, इस प्रकार के भेद पूर्वभव के कर्मबन्ध के कारण हैं। इस प्रकार पूर्वभव का मानना उचित है। जब पूर्वभव है, तो अगला भव भी है ही। बच्चा जन्मता है, धीरे-धीरे बडा होता है, किशोर, युवक, प्रौढ और वृद्ध भी होता है। जन्म के समय छोटा था, गर्भ मे बहुत छोटा था। बाद मे वृद्धावस्था तक कितना परिवर्त्तन हुआ ? संसार मे कई प्रकार के पुद्‌गल हैं, शुभ भी और अशुभ भी। अशुभ की प्राप्ति तो सरलता से होती है, परन्तु शुभ की प्राप्ति सुलभ नही है। वैक्रिय, आहारक आदि वर्गणाएँ, औदारिक सम्बन्धी उत्तमता आदि शुभ करणी वाले को प्राप्त होती है। कर्म की शुभाशुभ प्रकृतियाँ और भेद इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं।

कर्म, आत्मा के साथ अनादि काल से लगे हुए है। पूर्व के कर्म, फल देकर, स्थिति पूर्ण होने पर पृथक् होते रहते हैं और नये बँधते रहते हैं। जिस प्रकार कुएँ मे से पानी निकलता भी रहता है और आता भी रहता है। यदि टाँके मे पानी हो और उसमे से निकलता रहे, किन्तु भरा नही जाय, तो वह खाली हो जाता है। इसी प्रकार सवर के द्वारा पाप-कर्मों को रोका जाय, तो निर्जरा से निकालते-निकालते आत्मा निर्मल हो जाती है।

कर्म-बन्ध मे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की विचित्रता होती है। किसी का शरीर छोटा, स्थिति बडी और सुख भी बहुत, सर्वार्थसिद्ध के देव के समान। वह वैक्रिय शरीर छोटा होते हुए भी उत्तम प्रकार का है। सातवी नरक के नैरियक

की उत्कृष्ट स्थिति सर्वार्थसिद्ध देव के समान है और शरीर सैंकडो गुण बड़ा है, परन्तु सुख की कौन कहे, उनका जीवन अत्यंत दु.खपूर्ण है। छोटीसी मिर्च में तीखापन अधिक और बड़ी मिर्च में कम। कोई दुबला-पतला बुद्धिमान्, पराक्रमी और उद्यमशील है, तो कोई मोटा-ताजा बुद्धिहीन और आलसी। किसी को ज्वर हो जाय, तो चार दिन मे दूर हो जाय और किसी को महिनो, और तपेदिक वालो को वर्षों सताता रहे। यह कर्म की स्थिति और रस का परिणाम है। किसी के बड़ी गाठ भी कष्ट नही देती, तो किसी के छोटी फुन्सी भी महा कष्टदायक होती है। अध्यवसायो की अशुभ तीव्रतमता से अन्तर्मुहूर्त मे ही इतनी स्थिति के पाप-कर्मों का वन्ध कर लिया जाता है कि तेतीस सागरोपम तक भोगना पडता है और अप्रमत्त सयत के अन्तर्मुहूर्त की उच्चत्तम उत्तम परिणति, कोटि भवो के पापो को भी क्षय कर देती है।

कर्मों की स्थिति और अनुभाग बढाया भी जा सकता है और कम भी किया जा सकता है। यदि अशुभ परिणति बढी, तो बढ सकते हैं और साधना मे तीव्रता आवे, तो कम हो सकते हैं। सीधी समझ से सोचें, तो मनुष्य के अपने भव के अलावा तिर्यञ्च का भव भी हमारे सामने है। तिर्यञ्च का भव, मनुष्य के लिए पर-भव है। देव और नरक भव हमारे सामने नही है, किन्तु चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारागण के विमान हमे दिखाई देते है। इनमे देव हैं। इनके ऊपर भी वैमानिक देव हैं। नीचे व्यन्तर, भवनपति और नारक हैं। अत्यन्त पापियो के पाप-भोग का स्थान नरकावास है। ज्ञानियो

के वचन पर विश्वास कर के कर्म-सिद्धान्त को मानना चाहिये और अशुभ परिणति से बचने के लिए विरति का सम्बल सदैव साथ रखना चाहिए, जिससे पापकर्मो के बन्धन से बचे रहे। याद रखिये कि हमारी आत्मा भी सिद्ध परमात्मा जैसी है। इसलिए विरति और तप की साधना करके हमे अपनी आत्मा को विशुद्ध बनानी है। जब हम पाप-कर्मो के बन्ध का मार्ग रोक देगे, तो दु ख-परम्परा भी टूटती जायगी और कभी परमात्म पद भी प्राप्त कर लेगे। कर्मसिद्धात समझने का यही आशय है।

मेरा कथन

जिस प्रकार जीव तत्त्व प्रत्यक्ष है, उसी प्रकार कर्म की करतूत भी स्पष्ट दिखाई देती है। जीवो की गति, जाति, इन्द्रिय, सुख-दु ख, जीवन-मरण और सम्पन्नता-विपन्नता आदि अवस्थाएँ कर्मजनित है। यदि कर्म नही हो, तो संसार मे एक भी जीव दिखाई नही दे। सभी अशरीरी, अयोगी एव अरूपी सिद्ध भगवान् हो जायँ। न जन्म हो न मरण, न भूख लगे न प्यास, सारा संसार-व्यवहार लुप्त हो जाय। सभी जीव समान हो जायँ और सभी आवश्यकताएँ समाप्त हो जाय। फिर संसार-व्यवहार हो भी क्यो ? ससार अनादि से है और रहेगा—जीव की सकर्मकता के कारण।

जिस प्रकार धूल, पत्थर, पानी, वायु, घास-फुस आदि पौद्गलिक वस्तुएँ हैं, उसी प्रकार कर्म भी पुद्गल है। पौद्गलिक

होते हुए और अनन्त परमाणुओ से युक्त होते हुए भी हमारे दृष्टिगोचर नही होता। अति बारीक होने के कारण कर्म-समूह चक्षु से नही देखे जाते। कर्मवर्गणाएँ पुद्गल की वह जाति है—जो आत्मा के हलन-चलन-स्पन्दन आदि से आत्मा के लगती है और अध्यवसायानुसार रुक्ष, स्निग्ध, शिथिल, दृढ़ या दृढ़तम चिपक जाते हैं और अपनी प्रकृति के अनुसार प्रभाव दिखाते हैं। जिस प्रकार वायु से उडती हुई धूल, कपडे पर भी लगती है और शरीर पर भी। यदि वस्त्र या शरीर बिलकुल साफ हुआ, तो धूल लगने के बाद खिर जाती है। यदि पानी से गीला शरीर हो, तो थोडी ठहर कर पानी सूखने पर धूल भी सरलता से उतर जाती है, किन्तु शरीर पर तेल लगा हो, तो उड़ कर लगी हुई धूल जम कर चिरस्थायी हो जाती है। उसका छुड़ाना भी कष्टप्रद होता है। तात्पर्य—कर्म वह धूल है जो केवल आत्मा के ही लगती है और उसी से आत्मा विभावी रह कर विभिन्न अवस्थाएँ प्राप्त करती है।

कुछ विचारक कहते हैं कि—'आत्मा और कर्म मे स्वभाव की आत्यतिक भिन्नता है। ये एक-दूसरे से विपरीत हैं। इसलिए एक-दूसरे का स्पर्शन, मिलन और बन्धन हो ही नही सकता। दोनो अत्यत भिन्न रहते हैं। न आत्मा कर्म को ग्रहण करती है और न कर्म ही आत्मा को बाँधते हैं। दोनो का परस्पर कोई मेल नही, दोनो पूर्णरूप से स्वतन्त्र हैं।' उनका यह कथन अनुचित है। अशुद्ध वस्तु मे स्वभाव के साथ विभाव भी होता है। स्वभाव से वस्तु अपने गुणयुक्त ही होती है, किन्तु

विभाव मे वह परभाव से सम्बन्धित भी होती है। आत्मा को सर्वथा अरूपी और पुद्गल से सर्वथा भिन्न–स्वतन्त्र मानने-लिखने वाले, स्वयं भी पौद्गलिक शरीर से युक्त हैं। मुँह से बोलते हैं, लिखते हैं, पुस्तक पढते है, खाते, पीते, सोते और वस्त्रादि धारण करते हैं। भोजन मे विलम्ब होने पर उनकी आत्मा मे अकुलाहट होती है और भोजन प्राप्त हो जाने पर तृप्ति एव संतोष हो जाता है। जोर से प्यास लगने पर घबडा-हट होती है और शीतल जल पी कर सतुष्ट हो जाते हैं। यह सब क्या है ? आत्मा का पुद्गल के साथ सयोग-सम्बन्ध है, या नही ? पुद्गल–जड की अप्राप्ति पर आत्मा मे आकुलता और प्राप्ति मे सतुष्टि क्या बतलाती है ? इससे आत्मा और पुद्गल की आत्यतिक भिन्नता और सर्वथा निरपेक्षता प्रकट नही होती, कथंचित् अभिन्नत्व, सापेक्षता एवं अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव सिद्ध हो रहा है। यदि पुद्गल से आत्मा सम्बन्धित नही होती, तो शरीर मे बद्ध क्यो होती ? शरीर मे रोग होने पर आत्मा में वेदना का अनुभव क्यो होता ? शरबत पीने पर शीतलता एवं तृप्ति क्यो होती ? भोजन शरीर मे जाता है, किन्तु आत्मा में उत्पन्न क्षुधाजन्य वेदना की उपशाति का संतोष क्यो होता ? भूली हुई बात, पुस्तक देखकर स्मरण क्यो हो जाती ? ये प्रत्यक्ष दृश्य बतला रहे हैं कि आत्मा, वर्त्तमान स्थिति मे पुद्गल से सर्वथा भिन्न नही है, अपितु कथचित् सम्बन्धित है और यह सम्बन्ध कर्म-जनित है। आत्मा, कर्म से आबद्ध-परिबद्ध है। अतएव निश्चयवादी विचारक का प्रत्यक्ष की अवहेलना करके,

एकान्तवाद का आश्रय लेना मिथ्या है।

भाँग, गाजा, मदिरा और विष आदि पौद्गलिक वस्तुएँ हैं। इनके सेवन से आत्मा पर भी असर होता है। जीव अपनी सुधबुध भूल कर पागल जैसा हो जाता है और क्लोरोफार्म से तो मृतकवत् हो जाता है। यह आत्मा पर पुद्गल के प्रभाव का ज्वलन्त प्रमाण है। एकान्त निश्चयवादी भी यह समझता है कि आग मे अंगुली रखने से जलती तो पुद्गलिक अगुली ही है, किन्तु जलन से उत्पन्न वेदना का अनुभव आत्मा करती ही है। ये जीव और जड़ के परस्पर सम्बन्धित होने और उसके फल-वेदन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। फिर भी वे अपना दुराग्रह नहीं छोडते, यह आश्चर्य की वात है।

एकान्त निश्चयवादी लोग, आत्मा का स्वभाव केवल-ज्ञानमय मानते हैं और केवलज्ञानी, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होते हैं। किन्तु निश्चयवादी लोग, सर्वज्ञ नही—छद्मस्थ हैं। उनकी सर्वज्ञता कहाँ चली गई ? किसने रोकी ? वे अशरीरी सिद्ध क्यो नही हुए ? कहना होगा कि ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्म ने उनके केवलज्ञान-केवलदर्शन को अपने आवरण मे जकड रखा है और नामकर्मादि ने आत्मा को शरीर मे वन्दी वना रखा है। इस सीधी और सरल वात की उपेक्षा करके अपने एकान्तवादी हठ को पकड़े रहना—अभिनिवेश मिथ्यात्व है।

× × × × ×

राजनैतिक साम्यवाद, समाजवाद या कुत्सित् तर्कवाद अथवा प्रच्छन्न प्रतिष्ठावाद से प्रेरित व्यक्ति, कर्म-सिद्धान्त को

स्वीकार करते हुए भी कहते है कि—'आर्थिक सम्पन्नता-विपन्नता तथा सुख-सामग्री की प्राप्ति-अप्राप्ति मे कर्म-फल कारण नही होता, किन्तु तात्कालिन परिस्थिति अथवा मनुष्य द्वारा उत्पन्न स्थिति कारणभूत होती है।' वे यह भी मानते हैं कि—'संयोग, वियोग, शोक और मृत्यु आदि भी कर्म-फल नही, किन्तु अन्य भौतिक कारण है। कर्म-प्रकृतियाँ, तो जीवविपाकिनी, भव-विपाकिनी, क्षेत्रविपाकिनी और पुदगलविपाकिनी है। पुद्गल-विपाकिनी प्रकृतियाँ भी शरीर, अंगोपाग, वर्णादि शुभाशुभ से सम्बन्धित हैं, धनादि अथवा सुख-सामग्री आदि से सम्बन्ध नही रखती।' इस प्रकार वे तार्किक लोग, अपने हृदयस्थ अश्रद्धा को सिद्धात के नाममात्र के सहारे से प्रचारित करते हैं। किन्तु उनका प्रचार असत्य है।

पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियाँ केवल शरीर पर ही प्रभाव डालती हो-ऐसी बात नही। वे इष्ट शब्द, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श रूपी पौद्गलिक सामग्री की प्राप्ति-अप्राप्ति, सयोग-वियोग आदि मे भी कारणभूत होती है। यह बात साता-असातावेदनीय कर्म के फल-विधान से स्पष्ट होती है। प्रज्ञापना सूत्र के २३ वें पद मे—'मनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, सुखकारी मन, वचन और काया की प्राप्ति, सातावेदनीय कर्म से और दुःख-दायक साधनो की प्राप्ति असातावेदनीय कर्म के उदय से होना लिखा है। भगवती सूत्र श. ८ उ ८ मे, क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, और मैल—ये ग्यारह परीषह, वेदनीय कर्म के उदय से होना बतलाया है। इससे भी सिद्ध है कि—भोजन, पान, स्थान तथा रोग एव शस्त्रा-

घातादि, असातावेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त होता है। इच्छित वस्तु की अप्राप्ति (अलाभ परीषह) अन्तराय कर्म के उदय से होती है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र के तीसरे अधर्मद्वार के अंतिम सूत्र मे पापकर्म के उदय से बुरा स्थान, बुरा आसन, कुभोजन, दरिद्रता, जीवन चलाने के लिये उपयुक्त धन एवं सुख-सामग्री की अप्राप्ति और भोजन भी कठिनाई से प्राप्त होने का मूल पाठ मे उल्लेख हुआ है। यथा—

कुठाणासण-कुसेज्ज-कुभोयणा असुइणो कुसंघयण . . . . परपिंडतक्कगा . . . . दरिद्दोवद्दवाभिभूया . . . जीवणत्थरहिया, ... दुक्खलद्धाहारा . . . . अत्थोपायण-काम-सोक्खे य लोयसारे होंति अफलवंतगा . . . . जहा-जायपसुभूया . . . . . . णिच्च-णीयकम्मोवजीविणो . . . . आदि।

तात्पर्य यह कि सभी प्रकार का अभाव, पापकर्म के फल स्वरूप और अनुकूल सामग्री की प्राप्ति शुभ कर्मों के फल स्वरूप होती है। आत्मा जो भी सुख-दु ख का वेदन करता है, वह अपने ही किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल है। कर्म जघन्य कोटि के भी होते हैं और मध्यम तथा उत्कृष्ट भी। भावो के अनुसार रस और स्थिति होती है। क्लिष्ट भावो से उनके प्रदेश, प्रकृति, रस और स्थिति मे वृद्धि भी हो जाती है और शुभ भावो एवं धर्माचरण से कमी भी हो सकती है।

भगवती सूत्र १–८ मे श्री गौतमस्वामीजी म के प्रश्न का उल्लेख है। श्री गौतमस्वामीजी म. ने पूछा–"भगवन्! दो समान वय, बल, पराक्रम एव साधन वाले व्यक्ति लडते है, तब दोनो का बल एवं साधन समान होते हुए भी एक विजयी होता है और दूसरा पराजित, -इसका क्या कारण है? भगवान् का उत्तर है,–

"गोयमा! जस्सणं वीरियवज्झाइं कम्माइं णो बद्धाइं णो पुट्ठाइं जाव णो अभिसमण्णागयाइ णो उदिण्णाइं, उवसंताइं भवति, से णं पराइणइ। जस्स णं वरियवज्झाइ कम्माइ बद्धाइ जाव उदिण्णाइ, णो उवसंताइं भवंति, से णं पुरिसे पराइज्जइ।"

–हे गौतम! जिसने वीर्य मे बाधक होने वाले कर्मों का बन्ध नही किया, स्पर्श नही किया, यावत् उदय मे नही आये, वरन् उपशात हैं, वह पुरुष विजयी होता है और जिसने वीर्य का व्याघात करने वाले कर्मों का बन्ध किया है, स्पर्श किया है, यावत् उदय मे लाया है, उपशात नही किया, वह पुरुष पराजित होता है।

उपरोक्त आगम-विधान कर्म-फल को स्पष्ट बता रहा है। गत जून मे हुआ अरब-इजराइल सघर्ष भी यही बात स्पष्ट कर रहा है। मिश्र की सेना व साधन, इजराइल से बढचढ कर थे। उसके साथ जोर्डन सीरिया आदि भी थे। मिश्र के प्रेसिडेंट नासिर ने इजराइल का नाम विश्व के नक्शे पर से मिटा देने की घोषणा भी कर दी थी, किन्तु हुआ बिलकुल उलटा। अरब

राष्ट्र हारे भी और अपनी भूमि भी खोई । यह उनके दुर्भाग्य का परिणाम है ।

वे लोग भौतिक दृष्टि वाले हैं, जो बाह्य निमित्त को ही सब कुछ मान लेते हैं और आन्तरिक–उपादान कारण की सर्वथा उपेक्षा करते हैं । उनकी दृष्टि मे उपादान कारण (आत्मा का उदयभाव) आता ही नही । वास्तव मे वे कर्म-सिद्धात तथा जिनागमो के अश्रद्धालु हैं । उनसे सावधान रहना चाहिए ।

जैनी वही है जो आत्मा को मानने के साथ, आत्मा को कर्म का कर्त्ता, कर्म-फल का भोक्ता, कर्म से मुक्ति और मुक्ति का उपाय भी मानता हो । जो व्यक्ति इन्हे, या इनमे से किसी एक को भी नही मानता हो, वह जैनी नही, जैनाभास है । हमे अपनी धारणा आगमोक्त एव विशुद्ध रखनी चाहिए ।



सम्यग्दर्शन

(पांचवां दिन १६–६–६७)

पं. मु. श्री प्रकाशचन्द्रजी म. सा. का वक्तव्य

जैनधर्म मे सम्यग्दर्शन का महत्व, ज्ञान और चारित्र से भी बढकर बताया गया है । वास्तव मे सम्यग्दर्शन स्वय गुणाकर है । सम्यग्दर्शन रूपी स्वर्ण पात्र मे रहा हुआ चारित्र रूपी अमृत ही मुक्ति रूपी अमरफल देता है । इसके बिना

चारित्र की विशुद्ध क्रिया भी मुक्तिरूपी उत्तम फल नही दे सकती। सम्यक्त्व तथा सम्यक्त्वपूर्वक की हुई देशविरति या सर्वविरति की सामान्य साधना भी आत्मा को मुक्ति के निकट ले जाती है, किंतु सम्यक्त्व रहित की हुई उत्तम साधना भी ससार मे ही रुलाता है।

सम्यक्त्व प्राप्त कर लेना सभी आत्माओ के लिए सहज नही है। जिन आत्माओ पर मोहनीयकर्म का महा-मैल जमा हो, जिनकी विवेक शक्ति पर मिथ्यात्व मोहनीय का प्रभाव हो और जिनकी आत्मा मोहनीयकर्म के एक कोटाकोटी सागरोपम से लगा कर सित्तर कोटाकोटी सागरोपम तक के उत्कृष्ट बन्धन मे जकडी हो, वह सम्यग्दर्शन प्राप्त नही कर सकती। ऐसी आत्माओ मे सम्यक्त्व प्राप्त करने की योग्यता ही उत्पन्न नहीं हो सकती। जिन आत्माओ पर मोहनीयकर्म के ७० कोटाकोटी सागरोपम मे से ६९ कोटाकोटी से अधिक कर्म-बन्धनो का जाल हट चुका हो और अन्न कोटाकोटी रहा हो, उन्ही मे से कोई सम्यक्त्व प्राप्त कर सकती है।

यहा किसी को शका हो सकती है कि जब 'जीव विना सम्यक्त्व के भी ६९ कोटाकोटी सागरोपम की विशालतम स्थिति क्षय कर सकता है, तो शेष रही एक कोटाकोटी से भी कम स्थिति को विनष्ट क्यो नही कर सकता ? इस थोड़ी-सी स्थिति के लिए सम्यक्त्व की अनिवार्यता क्यो मानी गई ?' ज्ञानियो का अभिप्राय है कि—मिथ्यात्व अवस्था मे हुई अकाम-निर्जरा से आत्यंतिक निर्जरा नही होती। जिस प्रकार रगीन वस्त्र का धूप

लगने या वर्षा से कुछ रग उतर जाता है और वर्षा मे भीगने से मैले वस्त्र का कुछ मैल छूट जाता है, परन्तु पूरी स्वच्छता तो विधिपूर्वक क्षार आदि से धोने से ही होती है। इसी प्रकार मोहनीयकर्म के ६९ कोडाकोडी सागरोपम से अधिक की स्थिति तो अकाम निर्जरा से कट जाती है, परन्तु शेष रही अन्त.कोड़ाकोड़ी के लिए सम्यक्त्व का होना अनिवार्य है।

मन्त्रादि की सिद्धि तथा विद्याध्ययन की सफलता मे कठिनाई उपस्थित होती है—परीक्षा के दिनो मे। शेष लम्बा काल तो सामान्य साधना से ही चला जाता है। जर्मनी ने रसिया की सैकडो माइल भूमि पर अधिकार कर लिया था, किंतु वह शेष रहे लेनिनग्राड नगर पर अधिकार नही कर सकी और वही से उसे वापिस लौटना पडा। उसकी उतनी लम्बी-चौडी विजय भी पराजय मे वदल गई। इसी प्रकार अकाम-निर्जरा से जीव ६९ कोटाकोटी सागर प्रमाण कर्म नष्ट कर देता है, परतु शेप कर्मों को नष्ट करने के लिए सम्यग्दर्शन अनिवार्य हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव ही मोहनीयकर्म की शेष रही अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन कषाय को नष्ट कर सकता है और कर्मों के वन्ध मे भी कमी कर सकता है। जिसने एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया, वह फिर कभी भी एक कोटाकोटी सागरोपम से अधिक का (या पूरे एक कोटाकोटी सागर का भी) वन्ध नही कर सकता, भले ही उससे सम्यक्त्व का वमन होकर मिथ्यात्व आ जाय और वह देशोन अर्द्ध पुद्गल

परावर्त्तन रूपी अनन्त काल तक संसार मे परिभ्रमण करता रहे।

एक वस्त्र के दो टुकडे करने के बाद जब पहनने का काम पडा, तो वह छोटा लगा। फिर से दोनो टुकडो को सी कर जोड लिया, तो उससे काम चल जाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व का वमन हो जाने पर भी जीव की ऐसी परिणति बन जाती है कि जिससे वह पुनः बीच मे आये हुए मिथ्यात्व को हटा कर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। एक बार सम्यक्त्व पा लेने पर अधिक से अधिक देशोन अर्द्ध पुद्गल परावर्त्तन मे तो मुक्ति प्राप्त कर ही लेता है।

जीव, मिथ्यात्व दशा मे यथाप्रवृत्तिकरण + करके सम्यक्त्व के निकट आ सकता है। ऐसी दशा मे अभव्य जीव भी आ सकता है, किन्तु वह अपूर्वकरण करके सम्यक्त्व प्राप्त नही कर सकता। नदी मे रहा हुआ पत्थर, पानी के प्रवाह से परस्पर टकराकर घिस जाता है और गोलमटोल तथा कोमल बन जाता है, जिसे लोग देव-मूर्ति (शालिग्राम) बना कर पूजने लगते हैं। इसी प्रकार अकाम-निर्जरा द्वारा मोहनीयकर्म की साधिक ६९ कोडाकोडी सागरोपम जितनी दीर्घ स्थिति को भोग कर, जीव

+ यथाप्रवृत्तिकरण भी दो प्रकार का है—१ सामान्य और २ पूर्व प्रवृत्त। सामान्य तो अभव्य तथा दुर्भव्य को भी होता है। अपूर्वकरण के पूर्व होने वाले यथाप्रवृत्ति करण को 'पूर्व प्रवृत्त' कहते हैं। यही ग्रंथीभेद करके सम्यक्त्व प्राप्त करवाता है। यथाप्रवृत्तिकरण—सम्यक्त्वोपत्ति के योग्य आत्म परिणाम।

सम्यक्त्व पाने के योग्य बन जाता है। इसके बाद मिथ्यात्व की गाठ तोडने के लिए आत्मा अपूर्वकरण करती है। अपूर्व-करण से जीव अनन्तानुवन्धी कषाय की गाठ को तोड कर, अनिवृत्तिकरण करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। यथा-प्रवृत्तिकरण तो अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि को भी होता है, किन्तु अपूर्वकरण तो सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले भव्य को ही होता है। इससे वह मोहनीयकर्म की दृढतम गाठ को तोड़ देता है। यथाप्रवृत्तिकरण तक जीव अनन्त बार आ जाता है, किन्तु अपूर्वकरण, अनादि मिथ्यादृष्टि प्रथम बार ही प्राप्त करता है। यह अपूर्वकरण ही अनन्तानुवन्धी कषाय की, अनादि की दुर्भेद्य गाठ को काट कर आत्म शुद्धि करता है और अनिवृत्तिकरण से मिथ्यात्व मोहनीय का भेदन कर सम्यक्त्व लाभ करता है।

यथाप्रवृत्तिकरण आदि के विषय मे आचार्यों ने एक दृष्टान्त दिया है। तीन मनुष्य एक साथ यात्रा कर रहे थे। मार्गस्थ अटवी मे चोरो का समूह मिला। वह रास्ता रोके खडा था। यात्रियो मे से एक डर कर उलटे पैर भागा। एक को चोर ने पकड लिया। तीसरा साहसी था जो चोरो से लड़-भीड कर विजयी बना और आगे बढकर इच्छित स्थान पर पहुँच गया। इस उदाहरण मे बताये तीन प्रकार के यात्रियो के समान तीन करण हैं और चोरों के समान मिथ्यात्व है। भागने वाले डरपोक यात्री के समान वे जीव है, जो यथाप्रवृत्ति-करण तक आ कर भी अपूर्वकरण नही करके लौट जाते हैं (यथाप्रवृत्तिकरण से भी गिर जाते हैं) और फिर उसी मिथ्यात्व

नगर में पहुँच जाते हैं–जहा से आये थे। पकडा जानेवाला यात्री यद्यपि अभी यथाप्रवृत्ति करण मे है, तथापि आगे नही बढेगा, तो उसे भी पीछे लौटना पडेगा। जो यात्री चोरो को जीत कर इच्छित स्थान पहुँच गया, उसके समान हैं–अपूर्वकरण करके सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीव।

'कोदो' नामक धान्य, मादक (नशीला) भी होता है। उसके खाने से नशा चढता है और खाने वाला उस नशे मे विकृत मानस होकर तडपना है। आदिवासी लोग, अपने पशुओ को मार कर खाने वाले बाघ, चीते और सिह आदि को मारने के लिए वैसे मादक कोदो को, मास मे मिला देते हैं, जिसे खा कर हिसक प्राणी मर जाते हैं। ऐसे मादक कोदो के समान मिथ्यात्व है। गाढ मिथ्यात्व तो विष के समान है–जो आत्मा की दर्शन शक्ति का घात करता है।

कोदो को छाछ आदि से धो कर मादकता कम की जाती है, इससे वह उतना मादक तो नही रहता, फिर भी कुछ नशा रहता है। इसके समान है मिश्रमोहनीय, जिसमे मिथ्यात्व का कुछ अश रहता है। जिस कोद्रव मे मादकता नही रहे, वह नशा नही करता। इसके समान है क्षायोपशमिक सम्यक्त्व।

मादक कोद्रव ऐसा भी होता है कि जो पुराना होने पर स्वभाव से ही निर्मद हो जाता है। दूसरे प्रकार के कोद्रव की मादकता प्रयत्न करने पर छुट जाती है, किन्तु ऐसा कोद्रव भी होता है कि जिसकी मादकता छूटनी ही नही। इसी प्रकार कुछ जीव ऐसे भी होते है कि जिनका मिथ्यात्व, मन्द होता हुआ

स्वतः छूट जाता है–स्वभाव से ही। कुछ का उपदेश रूपी प्रयत्न से छूटता है और अभव्य जीवो का मिथ्यात्व तो छूटता ही नही, सदैव बना ही रहता है।

सम्यक्त्व के मुख्यत· तीन भेद हैं–औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। औपशमिक सम्यक्त्व मे अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क तथा दर्शन त्रिक के दलिक पूर्णरूप से उपशान्त हो जाते हैं–दब जाते हैं, राख के नीचे दबो हुई आग की तरह। उनका प्रदेशोदय भी नही होता। क्षायिक सम्यक्त्व तो तभी होती है जब कि वे दलिक समूल नष्ट हो जायँ। क्षायो-पशमिक सम्यक्त्व मे, उदय मे आये हुए मिथ्यात्व के कर्मपुद्गल तो क्षय कर दिये जाते हैं, और जो उदय मे नही आकर सत्ता मे ही हैं, वे उपशात हो जाते हैं। उनका प्रदेशोदय मात्र होता है। उपशम और क्षयोपशम समकित मे मिथ्यात्व की सत्ता रहती है, जिससे उदय मे आने की संभावना बनी रहती है।

उपशम सम्यक्त्व संसार अवस्थान काल मे पाच बार से अधिक नही आती, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उत्कृष्ट असंख्य बार आ सकती है, किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व तो मात्र एक बार ही आती है और स्थायी–सादि अपर्यवसित रहती है। उपशम और क्षयोपशम समक़ित वाला तो पुन. मिथ्यात्व प्राप्त कर, कोई उत्कृष्ट देशोन अर्ध पुद्गल-परावर्त्तन काल तक, अनन्त जन्म-मरण भी कर लेता है, किन्तु क्षायिक-सम्यक्त्वी जीव चार भव से अधिक नही करता। वह भी क्षायिक-सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व आयुष्य बाँध लिया हो तो। यदि पहले आयुष्य नही बांधा

हो, तो फिर वह आयुष्य का बन्ध नही करता और मोक्ष ही प्राप्त करता है। इसकी प्राप्ति भी एकमात्र मनुष्य-भव मे ही होती है। प्राप्ति के बाद क्षायिक-समकित की उपलब्धि चारो गति मे होती है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे मिथ्यात्व का जो अश उपशान्त रहता है, वह निमित्त मिलने पर उदय होकर सम्यक्त्व को नष्ट कर देता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व के पतन के अनेक निमित्त होते है। इसलिए प्राप्त सम्यक्त्व की रक्षा करना अत्यंत आवश्यक है। रक्षित सम्यक्त्व अधिक से अधिक १५ भव मे मुक्ति दिला ही देता है।

सम्यक्त्व-रत्न को लूटने के लिए चारो ओर मिथ्यात्व रूपी लुटेरे लगे हुए हैं। प्रत्यक्ष डाकू दिखाई देने वाले से तो मनुष्य सावधान रहकर बचाव भी कर लेता है। क्योकि वह पहले से उससे दूर रहता है। किन्तु जो डाकू, साहुकार, हितैषी एव परोपकारी तथा सेवक का स्वाग सज कर आवे, उससे बचना कठिन है। इस विषय मे गुरुदेव से एक बोधक दृष्टात सुना था, वह मैं आपको सुना रहा हूँ।

एक विशाल नगर मे हजारो भीख मांगनेवाले थे। उनका काम ही भीख मांग कर आजीविका चलाना था। उनमे कुछ अन्धे भी थे। उस नगर मे एक बाहर का ठग आया और भिखमगो मे मिल गया। दो-तीन दिन मे ही उसे मालूम हो गया कि अन्धे भिखमंगो के पास धन का सग्रह अच्छा है। अन्धे होने के कारण दयालु लोग उन्हे विशेष देते हैं। उनका धन

देख कर ठग ललचाया। वह अर्थ-सम्पन्न अन्धो के पास पहुँचा और कहने लगा—

"सूरदासजी महाराज ! धन्य भाग मेरे। मै आप जैसे महात्मा की ही खोज मे था। गुरुवर ! आप साक्षात् भगवान् से भी अधिक हैं। आपकी सेवा से भगवान् मिलते हैं। मै ससार से विरक्त हूँ और आप जैसे सूरदासजी महाराज की सेवा करना चाहता हूँ। लीजिए गुरुवर ! भोजन पाइए और तृप्त हो कर आशीर्वाद दीजिए।"

अन्धे को मिष्टान्न और नमकीन मिल गया। वह बहुत प्रसन्न हुआ और भक्त पर आशीर्वाद की झडी लगा दी। नकली भक्त, असली से भी अधिक मोहक होता है। वह अन्धे के लिए पानी लाने और पान-तमाखू आदि की सेवा भी करने लगा। इसी प्रकार वह अन्य अन्धो की भी सेवा करने लगा। अन्धे सभी साथ रहते थे। उन्हे सूझते हुए भिखमगो का विश्वास नही था। सूझने भिखमगे, इन्हे प्राप्त भीख पर जलते थे। थोड़े ही दिनो मे ठग-भक्त पर सभी अन्धो का विश्वास जम गया। अपना विश्वास जम जाने के बाद अनुकूल अवसर देखकर भक्त ने अन्ध-सभा से कहा,—

"महात्मा गण ! मै आपकी सेवा बराबर नही कर सका। इसका मुझे खेद हो रहा है।"

"भक्त ! तुम तो सतयुग के श्रवणकुमार जैसे हो। श्रवणकुमार तो अपने माता-पिता की सेवा करता था और तुम तो गुरु-भक्ति कर रहे हो। तुम तो श्रवणकुमार से भी उत्तम-

कोटि के हो"–सभी अन्धो ने वात्सल्य पूर्ण भावो से कहा।

"महात्मन्! मेरी इच्छा है कि आप सभी महात्माओ को तीर्थयात्रा करवा लाऊँ। यदि आप कृपा करे, तो मेरा जीवन सुधर जाय। मैं भवसागर से तिर जाऊँ।"

अन्धो को मनवाछित मिल रहा था। वे सब तय्यार होगए। अपना-अपना सामान तथा संचित धन लेकर सब चल निकले। आगे ठगराज, उसके पीछे अन्धो की कतार। चलते-चलते यह यात्रीदल अटवी मे होकर एक नगर के निकट पहुँचा। अनुकूल स्थान देखकर भक्तराज ने अन्धदल से कहा–

"महात्माओ! अब भयंकर अटवी आ रही है। यहा चोर-डाकुओ का उपद्रव हो सकता है। आप लोगो को कुछ दिखाई नही देता। इसलिए आप सावधान रहे और अपने पास के धन को अच्छी तरह सँभाले।"

अन्ध-समूह घबराया। उन्होने सोचा–"हम तो अन्धे हैं। चोर-डाकुओ से हम अपने धन को कैसे बचा सकेगे? भक्त! तुम ही यह धन लेकर सुरक्षित रखो। तुम पर हमारा पूरा विश्वास है।"

सभी अन्धो ने अपने नोटो के बंडल, अपने विश्वस्त भक्त को दे दिये। भक्त ने गुरुवर्ग की कुन्दी करवाने और आपस मे ही लड़ा-मारने के लिए एक युक्ति रची। उन सभी अन्धो की झोलियो मे पत्थर भरवा दिये और कहा;–

"यह चोर-लुटेरो का ही स्थान है। चुपचाप चलते रहिए। कोई किसी से कुछ भी नही बोले। यदि कोई निकट

आकर मीठी-मीठी बातें करने का प्रयत्न करे, तो आप विश्वास नही करे और पत्थर मार कर भगा दें। मै आपसे थोडी दूरी पर–अकेला चलूंगा, जिससे मुझ पर चोरो की दृष्टि नही पडे। आप कोई भी मुझे आवाज नही देवे।"

इस प्रकार उन अन्धो को समझा कर वह ठग, धन लेकर चलता बना और वे अन्धे इधर-उधर चक्कर काटते रहे। उधर से कोई नागरिक सज्जन निकला। उसने अन्ध-समुदाय को इधर-उधर भटकते देखकर पूछा–"सूरदासजी ! आप सब सीधे मार्ग क्यो नही चलते, उन्मार्ग क्यों भटक रहे हैं ?" बस, सज्जन पर पत्थर वर्षा होने लगी। पत्थर वर्षा से उस सज्जन का भी सिर फूटा और अन्धो के भी सिर फूटे। जबतक झोलियो मे पत्थर रहे, वे अन्धे आपस मे ही एक दूसरे पर चोट कर घायल होते रहे और भूमि पर गिर-गिर कर समाप्त हो गए। एक चालाक ठग ने बहुत से अन्धो का धन, बडी चतुराई से लूटा और उनके जीवन को ही समाप्त कर दिया। इसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी धर्म-रत्न को, आकर्षक एवं मोहक रूप मे उपस्थित होनेवाला मिथ्यात्व, हृत्प्रदेश मे घुस कर हर लेता है और मिथ्यात्व का मीठा विप भर देता है, जिससे वह मोक्षमार्ग से च्युत होकर संसाररूपी अटवी मे भटकता रहे, जन्म-मरण करता रहे। मोहक मिथ्यात्व से बचना बडा कठिन है। जो तत्त्वार्थ को भली प्रकार से जानता है, जिसकी जिनवचनो पर दृढ श्रद्धान है, वे ही सुज्ञ मिथ्यात्व से बच सकते हैं। हमे भी अपने सम्यक्त्व रत्न की रक्षा करनी चाहिए।

नोट—विदुषी सती श्री मनोहरकुँवरजी का व्याख्यान भी हुआ था । आपने 'स्याद्वाद मजरी' के माध्यम से सम्यक्त्व पर विवेचन किया था । किन्तु आपके कथन की टिप्पण हमें प्राप्त नही हो सकी । अतएव विवश हैं ।

पूज्य बहुश्रुत श्रमण-श्रेष्ठ का प्रवचन

दर्शन का अर्थ 'देखना' है और सम्यग् का अर्थ है 'यथार्थ'—जैसा है वैसा ही । वस्तु को बराबर (सही रूप मे) देखना—सम्यगदर्शन है । लोक-व्यवहार मे जो विपरीत देखता है, जिसे विद्रूप दिखाई देता है, उसे 'रोगी' कहते हैं । पीलिये का रोगी श्वेत वस्तु को भी पीले रंग मे देखता है । उसकी दृष्टि पर पीलिया छाया हुआ रहता है । आँखो से देखना चक्षु-दर्शन कहलाता है और कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन से देखना (आँखो के बिना ही अन्य इन्द्रियो से वस्तु के रस, गन्धादि जानना) 'अचक्षु-दर्शन' है । धोला-काला वर्ण, सुगन्ध दुर्गन्ध, कटु-मधुर रस और स्पर्श को इन्द्रियो से देखा जाता है, इस प्रकार देखने-जानने का यहां प्रयोजन नही । आज का विषय आत्मा मे श्रद्धा रूप से होने वाले उस दर्शन से है, जिससे आत्मा को परमात्म मार्ग का दर्शन होता है । यह विषय इन्द्रियो और उसके शब्दादि विषयो से सम्बन्धित नही, आत्मा से सम्बन्धित है । इस सम्यग्-दर्शन मे जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि तथा लोक-परलोक आदि

का मानना, स्वीकार करना, श्रद्धान करना है।

दर्शन आत्मा का गुण है। सभी आत्माओ मे दर्शन गुण विद्यमान है। बिना दर्शन की कोई आत्मा नही होती। चाहे सम्यक् हो या मिथ्या, व्यक्त हो या अव्यक्त। दर्शन गुण सभी आत्माओ मे होता है, फिर भले ही वह निगोद का जीव हो या सिद्ध परमात्मा।

संसार मे अनेक दर्शन–मत हैं,–आत्मवादी, अनात्मवादी, अद्वैतवादी, क्षणिकवादी, नित्यवादी, अनित्यवादी इत्यादि अनेक मत-मतान्तर हैं और सभी के अपने-अपने दर्शन है। उन सभी दर्शनो के उद्गमक, प्रवर्त्तक, शास्त्र एव मान्यताएँ हैं। दर्शन के भी दो भेद हो जाते है–अयथार्थ दर्शन और यथार्थदर्शन–मिथ्या-दर्शन और सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझ कर ही हम सम्यक् साधना मे प्रवृत्त हो सकते हैं। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे विवेक की आवश्यकता है। सत्य और असत्य को समझने मे आत्मा की विशुद्ध प्रज्ञा ही सफल होती है। आप बाजार मे सोना, चाँदी, हीरे, जवाहिरात खरीदने जाते हैं, तो पहले उनके खरे-खोटे की परीक्षा करते हैं और जो परीक्षा में खरा उतरता है, उसी को लेते हैं। इसी प्रकार तत्त्व की परीक्षा कर के सत्य को आत्मा मे स्थापित करना चाहिए।

आप जीव तत्त्व पर ही विचार करे। आप स्वय जीव हैं और आप से भिन्न भी अनन्त जीव हैं। सभी जीवो को अपना जीवन प्रिय है, सुख प्रिय है। सभी जीव सुखपूर्वक जीना चाहते हैं। इसलिए धर्म का, व्रत-महाव्रत का पहला भेद हुआ अहिंसा–

किसी भी जीव को नही मारना, नही सताना। अहिंसा को आप भी मानते हैं तथा दूसरे भी "अहिंसा परमोधर्म" कहते हैं और कोई 'रहम करना' कहते हैं। अपने-आप की हिंसा तो कोई नही चाहता। किन्तु वास्तव मे अहिंसा है कहा ? केवल कहने मात्र से ता अहिंसा नही आजाती। इसकी परीक्षा करनी होगी।

सोने की परीक्षा तीन प्रकार से होती है—१ कस, २ छेद और ३ ताप से। कसौटी पर घिसने से मालूम हो जाता है कि यह सोना है या पीतल, असली है या नकली ? कसौटी खरे-खोटे का भेद बतलाती है। यह प्रथम परीक्षा है—सोना परखने की।

कसौटी की परीक्षा ही पर्याप्त नही होती। कसौटी तो ऊपर का स्वरूप बतलाती है, भीतर का नही। ऊपर थोडासा सोना चढा दिया और भीतर चाँदी या ताँवा भरा हो, तो कसौटी उस रहस्य का पता नही लगा सकती। इस भेद को पाने के लिए दूसरी 'छेद' परीक्षा है। सूये से सोने मे छेद कर के भीतर का भेद जाना जाता है। इसमे मालूम हो जाता है कि भीतर भी सोना है या कोई दूसरी धातु। यदि धोखा हो, तो मालूम हो जाता है।

छेद परीक्षा भी पूरी परीक्षा नही है। छेद किसी एक स्थान पर किया जाता है। यदि उस स्थान पर सोना हो और अन्यत्र कुछ और भरा हो, तो वह परीक्षा से बच जाता है। इसलिये अन्तिम परीक्षा ताप है। तपाने से पूरे सोने की परीक्षा

हो सकती है। फिर धोखे के लिए अवकाश नही रहता।

सोने की पूरी परीक्षा की तरह दर्शन की परीक्षा भी तीन तरह से होती है–१ ज्ञानवाद से, २ क्रियावाद से और ३ तत्त्ववाद से।

(१) ज्ञानवाद से यह देखना चाहिये कि धर्म के मुख्य अग–अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की बाते करने वाले, अपनी इन बातो पर कायम हैं, या दूसरो की देखा-देखी कहते हैं और कुछ विपरीत भी कहते हैं? देखें कि ज्ञान-वाद की कसोटी पर कौन दर्शन ठहरता है।

एक दर्शन 'अहिसा परमोधर्म' भी कहता है और साथ ही यह भी कहता है कि 'भगवान् ने ये बकरे, मुर्गे, हिरन, खरगोश आदि मनुष्यो के खाने के लिए ही बनाये हैं। ये हमारे लिये भोग्य हैं। इनके मारने-खाने मे कोई पाप नही।' कोई युद्ध कर के म्लेच्छो का सहार करने की प्रेरणा देता है, कोई देव, काफिरो को कत्ल करने का उपदेश करता है। कोई धर्म के लिए झूठ बोलने और विषयवासना मे धर्म मानने की बात बतलाते हैं। जा भगवान् की पत्नी और उसके साथ भगवान् का भोग तथा भगवान् के द्रव्यार्पण, भगवान् के चक्र गदादि अस्त्र-शस्त्र माने, उनकी अहिसादि पाँच यम की बाते कैसे उप-युक्त हो सकती है? कहते 'अहिसा धर्म' भी हैं और देव को चक्र-गदाधारी भी मानते हैं, ब्रह्मचर्य का उपदेश भी देते हैं और देव के साथ देवी का सयोग भी मानते हैं। कैसा है उनका ज्ञान-वाद? इस पहली कसोटी मे ही उनका दर्शन नही टिक सका।

उन दार्शनिकों की यह असत्य बात यदि तर्क के लिए मान ली जाय कि बकरे-मुर्गे आदि मनुष्यो के खाने के लिए ही हैं, तो इसी तरह उन्हे यह भी मानना चाहिए कि—तुम भी सिंह-व्याघ्र आदि हिंसक पशुओ के खाने के लिए हो। मनुष्य की क्षुधा शांति के लिए तो अन्न और शाक उपयुक्त है—मांस नही। किंतु सिंह व्याघ्रादि तो मांस-भक्षी पशु हैं, इसलिए मनुष्य का दावा झूठा है। जिनके परम आराध्य भी स्त्री के बिना नही रह सके, उनकी ब्रह्मचर्य की बात भी कितनी दृढ हो सकती है? तात्पर्य यह कि अनेक दर्शन इस प्रथम परीक्षा मे ही छँट जाते है।

अब क्रियावाद की दूसरी कसौटी पर चढा कर देखिये। 'अहिंसा परमाधर्म' कहने वाले दर्शनो मे कई तो आग जलाकर धूनी तापने वाले हैं। उनकी धुनी मे अग्निकाय एव अन्य स्थावर जीवो के अतिरिक्त छोटे-बडे अनेक जन्तु जल जाते हैं। उनका खान-पान भी निरारभी नही। सचित अचित, सदोष-निर्दोष का भेद नही। रात्रि-भोजन करते हैं, हाथी-घोडे पर सवारी करते हैं। यज्ञ-यागादि मे कितनी हिंसा कर डालते हैं। अजैन दर्शनो मे बौद्ध दर्शन विशेष अहिंसावादी कहलाता है, किंतु उनके आराध्य स्वय मांसभक्षी थे। एकेन्द्रिय जीवो की यतना का पालन तो किसी भी अजैन क्रियावाद मे नही मिलेगा। इस दूसरी कसौटी ने सभी के क्रियाकलाप की कलई खोल दी। क्रियाकलाप मे कौन दर्शन पूर्ण रूप से अहिंसावादी है—यह इस कसौटी से स्पष्ट हो जाता है। जो चलने, फिरने और बोलने

में भी स्थावर जीवो तक की अहिंसा की यतना करे, वही दर्शन क्रियावाद की इस कसौटी मे उत्तीर्ण हो सकता है। शेष सभी फैल हो जाते हैं।

तीसरी कसौटी तत्त्ववाद की है। ज्ञान और क्रिया मे उत्तीर्ण होकर भी कोई तत्त्ववाद की कसौटी में फैल हो जाता है। जैसे—

कोई दर्शन 'अहिंसा परमोधर्म' तो कहे, किंतु साथ ही कहे कि ससार मे केवल एक ही आत्मा है। अद्वैतवादी के समान समस्त जीवो मे एक ही आत्मा माने, तो फिर हिंसा-अहिंसा का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। कौन किसे मारे ? कौन किसकी रक्षा करे ? मारने वाले मे भी वही और मरने वाले मे भी वही। फिर अहिंसा और हिंसा का प्रयोजन ही क्या ? जब सर्वत्र सभी मे एक पुरुषरूप आत्मा ही (जल चन्द्र-वत्) निवास करती है, तब धर्म साधना की भी क्या आवश्यकता है ? किस लिए ?

कई मत पृथ्वीकायादि स्थावरकाय मे जीव ही नही मानते, तो इनकी अहिंसा का प्रश्न ही नही उठता। इस प्रकार जिन दर्शनो को जीवो की पहिचान नही, जो जीव का स्वरूप ही नही जानते, जिनके दर्शन में अनन्त स्थावर जीव आये ही नही, वे उनकी अहिंसा कैसे पाल सकते हैं ?

जिन दर्शनो मे, यज्ञो मे पशुओ को होमने का विधान है, अश्वमेधादि यज्ञो का विधान है, उनका तत्त्ववाद निर्दोष कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार अंतिम परीक्षा मे सभी अजैन दर्शन निष्फल हो जाते हैं। अब जिनेश्वरोपदिष्ट अपने जैनदर्शन को देखिये,–

ज्ञानवाद मे जैनदर्शन, अहिंसादि मे धर्म कहता है। आगमो मे सर्वत्र यही कहा है। हिंसा मे धर्म कही भी नही बताया। जैनदशन का ज्ञानवाद, परस्पर विरोधी बाते नही कहता। क्रियावाद मे भी इसके सयमवान् साधु-साध्वी, निर्जीव एव निर्दोष आहार,वस्त्र स्थानादि, भिक्षा से प्राप्त करते हैं। यदि उनके लिए बनाया जाय या बनते हुए आहार मे उनके लिए कुछ वढाया जाय, अथवा देने के बाद मे बनाना पडे, तो ऐसा भोजन पानी भी वे नही लेते और भूखे-प्यासे ही रह जाते हैं। अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन करने के लिए वे नंगे पैर चलते हैं, खुले मुँह नही बोलते, अन्धेरे मे पूंज कर चलते हैं, बिना प्रमार्जन किये करवट भी नही बदलते, खाज भी नही खुजालते। जैन निर्ग्रंथो जैसा पूर्ण अहिंसक क्रियावाद अन्यत्र कहा मिलेगा ?

जैन गृहस्थ इस प्रकार का उच्च चारित्र नही पालता। वह स्थावरकाय के जीवो का आरम्भ करता है, फिर भी उसका दर्शन निर्दोष रहता है। वह कहता है कि–अहिंसा धर्म यथार्थ है, सत्य अचौर्यादि धर्म भी यथार्थ हैं। किंतु मैं कमजोर हूं। मुझ मे इतनी योग्यता नही कि मैं इनका पूर्णरूप से पालन कर सकूं। सुश्रावक शेष आरम्भ-समारम्भ को त्यागने का मनोरथ भी करता है। इसलिए उसका भी दर्शन निर्दोष है।

एक निर्धन व्यक्ति, दूसरे धनाढ्य का कर्जदार है। जब सेठ अपना रुपया मांगता है, तब निर्धन कहे कि–"सेठ

साहब ! आपका रुपया देना है। मैं देनदार हूँ। अवश्य दूंगा। आज मेरे पास नही है। मुझे आपके रुपयो की चिन्ता है। मै हाथ जोड कर दूंगा।" इस प्रकार वास्तविक उत्तर पाकर सेठ संतुष्ट हो जाता है। वह सोचता है कि–"यह ठीक कहता है। अभी इसके पास पैसा नही है, आमदनी भी कम है, कहां से ला कर देवे। इसकी नियत ठीक है। जब इसके पास पैसा आवेगा, तब दे देगा।" इसी प्रकार दार्शनिक सत्यता के कारण जैन गृहस्थ का दृष्टिकोण सत्य है और क्रियावाद मे भी कुछ गति है तथा भविष्य मे पूर्ण क्रियावाद अपनाने की भावना रखता है।

यदि कहा जाय कि–"हिंसा तो सर्वत्र है। उठने, बैठने, चलने, सोने एव हलन-चलनादि मे भी हिंसा होती रहती है, फिर क्रियावाद निर्दोष कैसे माना जाय ?"–समाधान है कि–"शरीर के कारण हलन-चलनादि होता है, इसमे किसी जीव की हिंसा भी हो जाती है। किंतु यतनापूर्वक प्रवृत्ति हो, तो वह अहिंसक है। क्योकि वह पूर्ण अहिंसा पालन करने की रुचि वाला है। उसका प्रयत्न भी यही है। सावधानी रखते हुए भी अनजानपन से या अनायास किसी जीव की हिंसा हो जाय, तो वह विवश है और इसका प्रतिक्रमण करता है। शास्त्रकार ने विधि तो सर्वथा निर्दोष ही बताई है। जीवन निर्वाह के लिए भोजन-पानी प्राप्त करने के लिए केवल भिक्षाचरी ही बतलाई और वह भी कितनी निर्दोष कि जिसकी समानता कोई भी दर्शन नही कर सकता। यह जैन धर्म की निर्दोष दार्शनिकता है।

सब से पहले दृष्टि शुद्ध होना आवश्यक है। दृष्टि

शुद्ध होने पर ही खरे-खोटे और असल-नकल की परख होती है। आँख से ठीक दिखाई नही दे, तो गेहूँ, दाल और चावल आदि की सफाई भी ठीक नही हो सकती। उनमे कंकर रह जाते है। चावलो मे सफेद कंकर उतने ही बडे हो, तो चुनना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा का दर्शन गुण निर्मल नही हो, तो कई प्रकार की मिथ्या बाते, धर्म के आवरण में आ कर गले पड जाती है। इसलिए सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाये रखने की पूरी आवश्यकता है।

तत्त्ववाद के विषय मे अन्यदर्शन मे अनेक प्रकार की गड-बडियाँ है। कई दर्शन ईश्वर "कर्तृत्व वादी" हैं। वे कहते हैं कि-"जैसी भगवान की इच्छा होगी वैसा करेंगे, हमारे किये क्या हो सकता है? करने-धरने वाला तो वही है।" उनके ऐसा कहने का मतलब तो यह हुआ कि--ईश्वर ही किसी को जीवित रखता या मारता है, हँसाता रुलाता है और स्वर्ग या नरक मे भेजता है। किन्तु ये सभी बाते झूठी है। मनुष्य अपने खोटे कार्यों का भार भी ईश्वर पर डाल देता है। इस प्रकार ईश्वर-कर्तृत्ववादी दर्शन, अपने अतत्त्ववाद से तीसरी कसौटी पर भी अनुत्तीर्ण रहते हैं।

अपना दोष भगवान् के सिर मढने के विषय में एक दृष्टांत है। गाँवडे की एक बाई प्रात.काल जल्दी ही उठ कर गोबर का संग्रह करती थी। वह अपने इस कार्य मे शीघ्रता करती। वह सोचती कि-'यदि मैंने देर की, तो कोई दूसरी स्त्री गोबर उठा लेगी और मैं वचित रह जाऊँगी।' वह मुँह-

अन्धेरे निकल जाती। वह सूर्य-उपासिका थी। गोबर चुन कर घर लौटते समय सूर्य उदय हो जाता और उदित सूर्य को देखते ही वह हाथ जोड कर नमस्कार करती। एक दिन अन्धेरे मे गोबर उठाते, उसके पास मनुष्य का गोबर (विष्ठा) पड़ा था। वह भी उठा कर टोकरे में डाल लिया और आगे बढी। थोड़ी देर मे सूर्य उदय हुआ। उस बाई ने तत्काल टोकरा नीचे रखा और दोनो हाथ जोड कर आँखें मूँदते हुए सूर्य को प्रणाम किया। उसके हाथ ज्योही नाक के पास आये कि विष्ठा की गन्ध नाक मे घुसी। महिला को आश्चर्य हुआ। उसने कहा—

"हे सूर्यनारायण! रोज तो तू गोबर मे उदय होता था, आज विष्ठा मे क्यो ऊगा?"

सज्जनो! यह उस बाई का दोष है, या सूर्य के उदय होने का? दृष्टि विकार से लोग अपना दोष भी दूसरों पर डाल देते हैं।

रुपये-पैसे, चाँदी-सोना या हीरा-जवाहरात की परीक्षा नही हो और हानि हो जाय, तो वह इस जीवन तक ही रहती है, परन्तु बुद्धि की विकृति बहुत बुरी होती है। पौद्गलिक सम्पत्ति साथ नही आती, घर मे रहती है। किन्तु बुद्धि तो घर, बाहर, वन, विदेश और सर्वत्र साथ रहती है। बुद्धि-विकार हटा कर आत्मा के दर्शन गुण को निर्मल बनाने से आत्मा पवित्र होती है और परम्परा से परमात्म-पद प्राप्त कर लेती है। आप भी अपने सम्यग्दर्शन को सुरक्षित रख कर दृढ़तम बनाते जाइए और क्षायिक-सम्यक्त्व प्राप्त कर अजर अमर बन जाइए।

मेरा वक्तव्य

यह तो स्वाभाविक बात है कि साधारण मनुष्य, सभी विषयो की सही जानकारी नही रखते। मैं स्वय चाँदी, सोना तो दूर रहे, धान्य–रोज खाने के गेहूँ की भी ठीक जानकारी नही रखता।

मनुष्य भले ही अपने को समझदार और होशियार माने, किन्तु वह किसी एक विषय मे भी पूर्ण पारगत नही हो सकता। जितना जाना है, उससे अनजाना पक्ष अनन्त गुण रहता है–एक ही वस्तु का। स्पेशलिस्ट कुछ विशेष जानते हुए भी पूर्ण ज्ञाता नही होते। एक ही वस्तु को सम्पूर्ण रूप से सर्वज्ञ ही जान सकते हैं। इस प्रकार साधारण मनुष्य, पौद्गलिक एव दृश्यमान वस्तुओ की भी सही जानकारी नही रख सकता, इसलिए उसकी दृष्टि विपरीत भी हो सकती है। मनुष्य पौद्गलिक वस्तुओ मे कुछ विशेष जानता हो, तो भी वह सम्यग्दृष्टि नही कहा जा सकता और ऐसी जानकारी के अभाव मे मिथ्यादृष्टि भी नही कहा जा सकता। सम्यग्दर्शन का विषय है–आत्मोद्धारक विषय को समझने की यथार्थ दृष्टि। जिस दृष्टि मे आत्मा-अनात्मा मे भेद, आत्मा मे परमात्मा बनने की शक्ति, तथा परमात्मपद प्राप्त करने की साधना को यथार्थरूप मे समझ कर विश्वास करने की क्षमता है, वही सम्यग्दृष्टि है।

जैनी अथवा सम्यग्दृष्टि वही आत्मा हो सकती है जिसमे यह विश्वास हो कि–

(१) आत्मा का अस्तित्व है, अवश्य है, आत्मा है ही।

इस दृश्यमान् शरीर से आत्मा कथचित् भिन्न है। शरीर, पर है। मैं स्वय आत्मा हूँ और मेरे जैसी अन्य अनन्त आत्माएँ भी हैं और अशरीरी परमात्मा भी हैं।

(२) आत्मा सदाकाल शाश्वत है; अनादि-अपर्यवसित है। शरीर विनाशी है, आत्मा अविनाशी है। मृत्यु द्रव्य-प्राणो की होती है और पुन नये प्राण और नया शरीर प्राप्त होता है, किन्तु आत्मा तो वही होती है।

(३) आत्मा कर्म की कर्त्ता है। अनादिकाल से आत्मा कर्मबद्ध रही। बद्धकर्म का निर्जरण और साथ ही नवीन कर्मों का बन्ध करती रहती है। रहट की घटमाला की तरह बन्धन और अकाम-निर्जरण का दौर चलता ही रहा। भव्य जीवो के कर्मों की कभी समाप्ति हो सकती है, किन्तु अभव्य जीव तो सदैव कर्म-बद्ध ही रहता है।

(४) आत्मा कर्म की भोक्ता है। किये हुए कर्मों का फल, कर्त्ता को भोगना ही पडता है। हम सभी भोग रहे है। नारक, तिर्यञ्च और देव भी भोग रहे हैं। यद्यपि सभी कर्मों को रसोदय से भोगना ही पडता है—ऐसी बात नही है, किन्तु जिनका सुख या दुख रूप मे वेदन होता है, वह कर्मों का ही फल-भोग है।

(५) मोक्ष है। आत्मा केवल कर्म का कर्त्ता और भोक्ता ही नही, कर्मविजेता भी है। अकर्मी—निष्कर्मी—कर्म रहित भी होता है। आत्मा का कर्म से रहित होना बन्धन-मुक्ति है, मोक्ष है। मुक्तात्मा ही सिद्ध परमात्मा है। ऐसी

आत्माएँ, कर्म से, क्रिया से, शरीर से, योग से और भव-भ्रमण से विमुक्त होकर ऊपर लोकाग्र पर स्थिर हो जाती है।

(६) मोक्ष का उपाय है। सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, मुक्ति पाने का उपाय है। सवर से नवीन कर्मो का वन्ध रुकता है, त्याग, विरक्ति, प्रत्याख्यान—कर्मों पर रोक लगाने वाले हैं और तप है—कर्म कचरे का दहन करने वाला। जव सवर और तप का सुमेल होता है, तो कर्मरूपी कचरा जल कर भस्म होने लगता है। जव सभी कर्म-काष्ठ जल जाते हैं, तो मुक्ति हो जाती है। आत्मा शुद्ध सोने की भाति परम पवित्र हो जाती है।

इस षट-सूत्री सिद्धान्त पर विश्वास करने वाली आत्मा मे सम्यग्दर्शन की ज्योति प्रकट होती है।

सम्यग्दर्शन वह भूमिका है कि जिसके आधार पर मोक्ष का भव्य प्रासाद वन सकता है। भूमि के अभाव मे लक्षाधिपति भी घर का मकान नही वना सकते। वम्वई जैसे विशाल नगरो मे सैकड़ो-हजारो लखपति, विना घरवार के दूसरे के किराये के मकान मे रहते हैं। क्योकि उनके पास भूमि नही है। भूमि मिल जाय, तो मकान तो वे खडा कर सकते हैं। इसी प्रकार कई मिथ्यादृष्टि जीव, सदाचार का पालन करते हुए भी सम्यग्दर्शन रूपी भूमि के अभाव मे विना घर के किरायेदार हो रहे हैं।

जिसके पास भूमि है, वह अर्थाभाव से वर्त्तमान मे भवन निर्माण नही कर सकता, तो भविष्य मे कर लेगा। भूमि मिलने पर लोग रम्य पर्वतो पर भी भव्य कोठियाँ वना लेते

हैं। इसी प्रकार जिसके पास सम्यग्दर्शन रूपी भूमिका है, वह विरति रूपी धन के अभाव मे आज नही बना सकता, तो भविष्य मे बना लेगा। भूमि रही, तो भवन बन जायगा। इसलिए सबसे पहले सम्यग्दर्शन रूपी भूमि प्राप्त करनी चाहिए और प्राप्त भूमि का रक्षण करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन के पोषक तत्त्व हैं—१ परमार्थ संस्तव और २ परमार्थ सेवन।

परमार्थ संस्तव—परम अर्थ है—मोक्ष। मोक्ष प्राप्त परमात्मा—अरिहंत सिद्ध, मोक्ष-साधक आचार्यादि श्रमण और मोक्षमार्ग—श्रुत-चारित्र धर्म—निर्ग्रंथ धर्म का परिचय करना, इन्हे समझना जीवादि तत्त्वो का अभ्यास करना, उन पर श्रद्धा करना और उन पर प्रीति रखते हुए प्रशंसा करना।

परमार्थ सेवन—मोक्ष प्राप्त देव, मोक्ष के सर्व-साधक गुरु की सेवा करना।

इन दो पोषक तत्त्वो से सम्यक्त्व बल को बढाना—पुष्ट करना और बलवान बनाना।

सम्यग्दर्शन का रक्षण करने वाले तत्त्व हैं—१ व्यापन्न वर्जन और २ कुदर्शन वर्जन।

व्यापन्न वर्जन—सम्यग्दर्शन का वमन कर के जो कुदर्शनी बने, उन दर्शन-भ्रष्टो की सगति से दूर रहना।

कुदर्शन वर्जन—जिन दर्शनो मे मिथ्यात्व का अंश हो, जो सराग प्रवर्त्तको द्वारा निर्मित, छद्मस्थो द्वारा प्रचारित तथा आरंभ परिग्रह से युक्त हैं, संसार-साधक हैं, जिनमें

सावद्यता का अंश भी है, उनकी सगति से दूर रहना।

परमार्थ सस्तव और परमार्थ सेवन–ये दो नियम सम्यग्-दर्शन के पोषक–पुष्टिकारक हैं और व्यापन्नवर्जन तथा कुदर्शन-वर्जन–ये दो रक्षक नियम हैं। इनका पालन अत्यावश्यक है। जैसे–पोषण के अभाव मे शरीर दुर्बल हो जाता है, शक्ति कम हो जाती है और अन्त मे मृत्यु की मार पड जाती है, वैसे ही सम्यक्त्व पोषक तत्त्वो से वचित रहने पर दर्शन-भ्रष्ट होने का प्रसग प्राप्त होता है–'नन्द मनिहार' वत्। और व्यापन्न-कुदर्शन सस्तव तो चोर-डाकू के सहवास के समान है। कुदर्शनी से भी बढ कर व्यापन्न–दर्शन-भ्रष्ट भयानक होते हैं। ये दर्शन-भ्रष्ट दूसरो को कम, किन्तु घर को अधिक भ्रष्ट करते हैं। प्रथम निन्हव जमाली से लगा कर अब तक का इतिहास इस बात की साक्षी दे रहा है।

कुछ कुतर्की लोग कहा करते हैं कि–"किसी की संगति से या किसी का मन्तव्य सुनने मे हानि ही क्या है? क्या वह या उसका विचार जबरदस्ती हमारे चिपक जावेगे? हमारा सम्यग्दर्शन इतना कमजोर है कि उनकी छाया से ही नष्ट हो जायगा?" इस प्रकार के कुतर्क उपस्थित करते हैं। उन्हे सोचना चाहिए कि उनका यह तर्क हमारे सामने नही, सर्वज्ञ भगवतो के सिद्धांत के सामने हैं। वे अपने तर्क से उस सिद्धात की अवगणना करते हैं। देवाधिदेव जिनेश्वर भगवंतो की अव-गणना करते है। उनके सम्यक्त्व की दशा तो यह तर्क ही बतला रहा है।

दूसरी बात यह भी है कि ससर्ग से गुण-दोष उत्पन्न होते भी हैं। जब चेचक, मयादी बुखार, हैजा, प्लेग आदि रोगों का जोर होता हैं, तब स्वास्थ्य विभाग से जनता को चेतावनी मिलती है कि—वे रोग से बचे रहे। रोगियो के संसर्ग से अपने को बचावे। टीका लगवावे, रोगी के बर्तन, बिछौने और वस्त्रों से भी सावधान रहे। उनके ससर्ग से आरोग्यता नष्ट होकर रोग उत्पन्न-होने का भय रहता है। उसी प्रकार दर्शन-भ्रष्टो की संगति से सम्यक्त्व मे क्षति होने की प्रबल संभावना है। जिस प्रकार ब्रह्मचारी का स्त्री से सम्पर्क और चहे का बिल्ली से ससर्ग घातक होता है, उसी प्रकार दर्शन भ्रष्टो का ससर्ग सम्यग्दर्शनी के लिए घातक होता है।

क्षयोपशम-सम्यक्त्व, उन्नत होकर क्षायक भी हो सकती है और विनष्ट भी हो सकती है। इसके साथ खतरा लगा रहता है। इसलिए इसकी रक्षा करना अति आवश्यक है।

आत्मा के लिए सम्यक्त्व महान् रत्न के समान है। इसे प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना और प्राप्त का रक्षण करना चाहिए। यह अनन्त संसार का अंत करने वाला है। एक बार अन्तर्मुहूर्त के लिए भी सम्यक्त्व का स्पर्श हो जाय, तो उस आत्मा की अवश्य मुक्ति होगी। यदि मिथ्यात्वमोह के उदय से यह रत्न छूट भी जाय और आत्मा फिर अनन्तानुबन्धी के चगुल मे फँस जाय, तो भी वह थोडी देर का प्रभाव, आत्मा को पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करा कर मोक्ष मे पहुँचावेगा ही।

सम्यक्त्व के लुटेरे—मिथ्यात्व के कई रूप हैं। यदि

मिथ्यात्व बीभत्स रूप मे आवे, तो लोग सरलता मे बच सकते हैं, जैसे–लोग परिचित एव बदनाम चोर-डाकू से बचते है। किन्तु साहूकार के रूप मे छुपे चोर और दयालु के वेश मे छुपे घातक से बचना कठिन होता है। अच्छे समझदार कहाने वाले भी ठगा जाते हैं। कोई मित्र के रूप मे आ कर ठगता है, तो कोई सेवक, हितैषी, उपकारी, रक्षक तथा सहायक के रूप मे। कोई धन का लोभ दिखा कर लूटता है, तो कोई मोहिनी अप्सरा बन कर लुटती है। भोले जीव, भुलावे मे आ कर लूट जाते हैं। इसी प्रकार मिथ्यात्व भी भाषा, लेखन, हाव-भाव और प्रतिपादन शैली की मोहकता मे सज्ज होकर आता है, तो श्रोता एवं पाठक के गले मे सरलता से उतर जाता है। विष-मिश्रित मिठाई भी बडी मोहक बन कर पेट मे पहुँचती है। किंपाकफल कितने मोहक थे, किन्तु परिणाम कितना घातक रहा। (ज्ञाता-धर्म-कथाग सूत्र)

युद्ध के समय, सेनापतियो को मोहित कर, उनमे भेद लेने या उन्हें मार देने के लिए शत्रु पक्ष की ओर से सुन्दरी युवतियें भेजी जाती हैं। वे अपना मोह-जाल फैला कर शूरवीर योद्धाओ को फाँस लेती हैं। भूतकाल मे विषकन्या के प्रयोग मे शक्तिशाली राजा को मारने की घटनाएँ भी हुई है। डबल साना बना देने का लोभ उत्पन्न कर लूटने की घटनाएँ भी घटी और विश्वास जमा कर असली के नाम मे नकली देने की घटनाएँ भी हुई और होती है।

मेरे साढूजी सोना चाँदी के व्यापारी हैं। वर्षों से धन्धा

करते है, प्रमुख व्यापारियो मे से हैं, किंतु वे भी एक वार असली चाँदी के बदले नकली ले कर ठगा गये--व्यक्ति विश्वास से। एक धूर्त्त ने परीक्षा के समय उन्हे असली सोने का जेवर वताया, जो परीक्षा मे सही निकला, भाव नही जमने से वह गहना वापिस दे दिया। एक-दो मिनट के वाद वह गहना वापिस देकर मूल्य के रुपये मांगे। साढूजी साहब ने गहना हाथ मे लिया। उस समय वे अन्य ग्राहको से बात कर रहे थे। गहने को हाथ मे लिये वे कुछ देर वाते करते रहे। उन्हे सन्देह हुआ कि 'यह वजन मे हलका है।' उन्होने फिर तोला, तो वास्तव मे कम वजन हुआ। फिर देखा तो सोना भी नकली। विक्रेता ने लौटाते समय चालाकी से उसे वदल दिया था। वे धोखे से बच गए और धूर्त्त भाग खडा हुआ।

क्षायक-सम्यक्त्व और केवलज्ञान के लिए कोई खतरा नही। वे तो पूर्ण स्थायी और परम समर्थ हैं। किन्तु क्षायक-सम्यक्त्व की प्राप्ति भी महान् दुर्लभ है। ससारी जीवो मे क्षायक-सम्यक्त्वी अत्यंत कम। क्षायोपशमिक ही अधिक होते हैं। क्षायोपशमिक का भी यदि पोषण और रक्षण किया जाय, तो वह क्षायिक-सम्यक्त्व एव केवलज्ञान प्राप्त करा सकती है। वर्त्तमान पञ्चमकाल मे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होना भी केवलज्ञान के समान है।

आत्मा पर चारित्रमोहनीय एव दर्शनमोहनीय के छाये घने अन्धकार मे, केवलज्ञानरूपी सूर्य ढका, छुपा और दवा हुआ पडा है। सम्यग्दर्शन रूपी दीप ज्योति अनन्तानुवन्धी और

मिथ्यात्वमोहनीय का अन्धकार दूर करके प्रकाश कर देती है। उस प्रकाश से आत्मा अपने पर जमे हुए कर्म के अनन्त आवरण (कूडा-कचरा) देखती है। उसमे साहस का उदय होता है। सम्यग्दर्शन की दीप ज्योति, अपने पर जमे और जमते हुए अनन्त कर्मावरण का देख कर आत्मा सावधान होती है और विरति के कपाट लगा कर आते हुए कर्म-कचरे को रोक देती है। उसके बाद आत्मा अपने मे तप रूपी हुताशनी प्रकट करती है। वह हुताशनी केवलज्ञान पर छाये हुए कर्म-जाल को जलाने लगती है और अन्त मे घातीकर्म के समस्त कर्म-कचरे को भस्म करके केवलज्ञानरूपी सूर्य को उदय मे ला देती है। इस प्रकार केवलज्ञान रूपी सूर्य को उदय मे लाने वाली सम्यग्दर्शन रूपी दीपज्योति है। यह उपकार सम्यग्दर्शन का है। सम्यग्दर्शन ही केवलज्ञान को प्रकट करने वाला है। यदि सम्यग्दर्शन नही हो, तो केवलज्ञान भी नही। वह मिथ्यात्वमोहनीय के गाढ अन्धकार मे ही दबा रहता है। सम्यक्त्व, केवलज्ञान की जननी है—माता है। इसका महत्व अत्यधिक है।

कुछ लोग सम्यक्त्व का अर्थ 'समभाव' करते हैं, यह अनुचित है। सोना और पितल, खोटा और खरा, सच्चा और झूठा, सदाचार और दुराचार और हिंसा और अहिंसा मे सम-भाव रखना—तटस्थ रहना, मात्र कहने की बात ही है, होने की नही। मनुष्य क्रियाशील है। वह सर्वथा निष्क्रिय एव तटस्थ नही रह सकता, कुछ न कुछ क्रिया करेगा और किसी न किसी ओर झुकेगा ही। यदि वह समझदारी से उचित एव शुभ क्रिया नही अपनाता, तो अशुभ क्रिया—पापाचार मे लग

जायगा। फिर तटस्थता कहा रहेगी ? वास्तव मे सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व का अर्थ–सही दृष्टि, हेय और उपादेय मे विवेक बुद्धि है। इस विवेकबुद्धि से ही विरति के बल से अधर्म का त्याग और धर्म का स्वीकार होता है। यही देश चारित्र और सर्व-चारित्र है। यदि धर्म और अधर्म मे समभाव हो, तो विरति के लिए अवकाश भी कहा रहता है ? अतएव समभाव या तटस्थता की बात असत्य है।

सम्यक्त्व का रूप किसी का मनमाना नही हो सकता। इसमे किसी का कुतर्क या दलील नही चल सकती। किसी की समझ मे आवे या नही, उसका स्वरूप निश्चित्त ही है और निश्चित्त ही रहेगा। कोई भी युक्ति या तर्क उसके स्वरूप को नही पलट सकते। जो उसके अनुकूल रहेगा, वह सुखी होगा और जो तर्क-जाल मे फँसकर विमुख हो जायगा, उसके लिए ससार का अनन्त चक्र खुला ही है।

सयग्दर्शन, आत्मा का स्वरूप दर्शन है, परमात्मा का दर्शन है, परमात्म-पथ का दर्शन है। इसकी प्राप्ति ही वास्तविक प्राप्ति है। इसका लाभ ही वास्तविक लाभ है। कहा है कि–

सम्यक्त्व रत्नान्न परं हि रत्नं,
सम्यक्त्व मित्रान्न परं हि मित्रम्।
सम्यक्त्व बन्धोर्न परो हि बन्धुः,
सम्यक्त्व लाभान्न परो हि लाभः॥
जिनधर्म विनिर्मुक्तो, मा भुवं चक्रवर्त्यपि,
स्यां चेटोपि दरिद्रोपि, जिनधर्माधि वासितं॥

विरति

(छठा दिन २०-६-६७)

मुनि श्री रतनचन्द्रजी और श्रीउत्तमचन्द्रजी म. सा. का वक्तव्य

विरति-पापजन्य प्रवृत्ति का त्याग करना, आत्मा की अशुभ परिणति रोकना, मन वचन और काया की प्रवृत्ति पर सम्यक् रूप से अकुश लगाना-'विरति' है। त्याग, प्रत्याख्यान, अणुव्रत, महाव्रत, देशव्रत, सर्वव्रत आदि सभी विरति के ही विभिन्न नाम एव रूप है। विरति से आत्मा मे आता हुआ कर्मरूपी कचरा रुकता है। कर्मों के भार से आत्मा हलकी बन कर उत्थान की ओर बढती है। सम्यग्दर्शन से आराध्य, आराधक और आराधना का विवेक होता है। वह यथार्थ मार्ग दिखाता है, किन्तु आगे गति नही करा सकता। उत्थान की ओर गति होती है-विरति से और पतन की ओर गिरना होता है अविरति से।

नदी के किनारे खडा व्यक्ति, दूसरे किनारे पर रहे हुए अपने घर मे पहुँचना चाहे, तो उसे उस किनारे से आगे बढना पडेगा, तभी वह गति करता हुआ किनारे पहुँच सकेगा। सम्यग्-दर्शन ने अन्धकारपूर्ण भयानक अटवी से निकाल कर एक महा नदी के किनारे खडा कर दिया। वह अनन्त संसार परिभ्रमण रूपी अटवी को भी देखता है और आगे रही हुई महानदी को भी देखता है। यदि वह वहा खडा रह कर देखता ही रहे और नदी को तैर कर पार पहुँचने की चेष्टा नही करे, तो आगे नही

बढ सकेगा और कभी मिथ्यात्वरूपो आँधी मे उलझ कर अटवी मे जा गिरा, तो पतन हो जायगा। इसलिए महानदी को तैर कर पार पहुँचना ही हितकर है। यह आगे बढना ही विरति है। विरति से मुक्ति की ओर गति होती है और सम्यक् विरति, सिद्ध-गति प्राप्त कराती है। जन्म-मरण, रोग-शोक और दुःख-दैन्य का जडमूल से नाश विरति से ही होता है।

जिनेश्वर देव ने विरति दो प्रकार की बतलाई है–१ सर्व-विरति और २ देश-विरति, अथवा–अनगार धर्म और अगार धर्म। सम्यग्दृष्टि का गुणस्थान चौथा है। जब सम्यग्-दृष्टि विरत बनता है, तो देश-विरत बनने पर पाँचवे और सर्व-विरत बनने पर सातवे मे प्रवेश कर छठे गुणस्थान मे आता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय-चतुष्क के उदय को रोकने पर ही विरति की सीमा मे प्रवेश होता है। देश-विरति मे अन्तर्मुहूर्त से लगाकर देशोन पूर्व कोटि तक जीव रह सकता है और सर्व-विरति मे जघन्य एक समय उत्कृष्ट पूर्व कोटि तक रह सकता है। देश-विरति मे सम्यक्त्वपूर्वक एक व्रत से लगा कर बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमा तथा अतिम सथारा सलेखणा है, विविध प्रकार का तप भी है। जिनागमो मे श्रावको का वर्णन आता है। छोटे से छोटा मजदूर, काष्ठ या घास का भारा उठा कर वन मे से नगर मे लाकर बेचने वाला–वन-जीवी दरीद्र मनुष्य भी श्रावक के व्रतो का यथाशक्ति पालन कर सकता है और बडे-बडे सेठ और राजामहाराजा भी कर सकते हैं। जल, थल और नभ मे विचरने वाले पशु-पक्षी भी योग्यतानुसार पालन कर

सकते है ।

श्रावक श्रुतज्ञान का अध्ययन और स्वाध्याय भी कर सकते है । आगमो मे श्रावको के अधिकार मे–"**लद्धट्ठा, गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, अभिगयट्ठा, विणिच्छियट्ठा**" तथा "**सूयपरिग्गहा**"–शब्द इस बात का स्पष्ट कर रहे है । तुगिया नगरी के श्रावको का वर्णन देखेगे, तो उन श्रावको की आगमज्ञान की साधना का पता चलेगा । श्रावक, निर्ग्रंथ-प्रवचन का पडित भी हो सकता है । ज्ञातासूत्र मे लिखा है कि सुबुद्धि प्रधान ने जितशत्रु राजा को प्रतिबोध दिया था । यदि सुबुद्धि धर्मज्ञ नही होता, तो राजा को धर्म के अभिमुख कैसे कर सकता था ?

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ वही धारण कर सकता है–जो दृढ-धर्मी हो । श्रावक की पहली दर्शन-प्रतिमा भी बिना किसी आगार के यथार्थ रूप से पालनी होती है, तभी वह आगे दूसरी प्रतिमा मे प्रवेश कर सकता है । इस प्रकार देश-विरति का पालन होता है । देशविरति मे त्याग, श्रावक की भावना एव योग्यता के अनुसार होता है । वह ४९ भग मे से किसी भी भग से त्याग कर सकता है ।

सर्व-विरति मे अशुभ प्रवृति का तीन करण, तीन योग से सर्वथा त्याग होता है । चारित्र पाच प्रकार है–१ सामायिक, २ छेदोपस्थापनीय, ३ परिहारविशुद्धि, ४ सूक्ष्मसम्पराय और ५ यथाख्यात ।

१ सामायिक चारित्र–पाप की सर्वथा निवृत्ति और

व्रत-साधना मे प्रवृत्ति होती है। यह चारित्र दो प्रकार का है–इत्वरिक और यावत्कथिक। जिस सामायिक चारित्र के बाद दूसरा छेदोपस्थापनीय चारित्र दिया जाय, वह इत्वरिक सामायिक चारित्र है और जीवन पर्यन्त सामायिक चारित्र रहे, वह 'यावत्कथिक' है। इत्वरकालिक सामायिक चारित्र इस अवसर्पिणी काल के भरत-ऐरवत क्षेत्र के प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के समय रहा, शेष मध्य के २२ तीर्थंकरो के और महाविदेह मे साधु-साध्वियो का 'यावत्कथिक' होता है। उस समय छेदोस्पथापनीय चारित्र नही होता।

२ **छेदोपस्थापनीय चारित्र**–दो प्रकार का होता है–निरतिचार और सातिचार। इत्वरिक चारित्र का काल पूर्ण होने पर, या २३ वे तीर्थंकर के साधु, २४ वे के धर्म, अनुशासन में प्रवेश करने पर, बिना दोष के जो दिया जाय, वह निरतिचार है और जो मूलगुण का घात करने पर फिर से दिया जाय, वह 'सातिचार छेदोपस्थापनीय' चारित्र है।

३ **परिहार-विशुद्धि चारित्र**–जिस चारित्र के द्वारा कर्मो का अथवा दोषो का विशेष रूप से परिहार होकर, निर्जरा द्वारा विशेष विशुद्धि हो, उसे "परिहारविशुद्धि" चारित्र कहते है।

इस चारित्र की आराधना नौ साधु मिल कर करते हैं। इनमे से चार साधु तप करते हैं। ये 'पारिहारिक' कहलाते हैं। चार साधु वैयावृत्य करते हैं, ये 'अनुपारिहारिक' कहलाते हैं। शेष एक वाचनाचार्य के रूप मे रहता है, जिसे सभी साधु वन्दना

करते हैं। उनसे प्रत्याख्यान लेते हैं, आलोचना करते हैं और शास्त्र श्रवण करते हैं।

पारिहारिक साधु ग्रीष्म ऋतु मे जघन्य उपवास, मध्यम बेला और उत्कृष्ट तेला का तप करते रहते हैं। शिशिरकाल में जघन्य बेला, मध्यम तेला और उत्कृष्ट चोला तथा वर्षाकाल में जघन्य तेला, मध्यम चौला, उत्कृष्ट पचोला तप करते रहते हैं। पारणे मे आयंबिल करते हैं। शेप पाँचो साधुओ के लिए तप का नियम नही है। वे चाहें, तो नित्य-भोजी भी रह सकते हैं। किन्तु इनका भोजन भी आयंबिल तप-युक्त होता है। यह क्रम छ. महीने तक चलता है। इसके वाद जो चार साधु पारिहारिक थे, वे अनुपारिहारिक (वैयावृत्य करने वाले) हो जाते हैं और जो अनुपारिहारिक थे, वे पारिहारिक हो जाते हैं और एक साधु जो गुरु स्थानीय हैं, वे उसी रूप मे रहते हैं। यह क्रम भी छः माह तक चलता है। इस प्रकार आठ साधुओ के पारिहारिक हो जाने के वाद (एक वर्ष वाद) उन आठ मे से एक को गुरु-पद पर स्थापित किया जाता है और गुरु-पद पर रहे हुए मुनिवर, पारिहारिक वन कर छ माह पर्यन्त उसी प्रकार तप करते हैं। इस प्रकार अठारह मास मे यह परिहारविशुद्धि तप पूर्ण होता है। इसके पूर्ण होने पर या तो वे सभी मुनिराज पुन. इसी कल्प को प्रारम्भ कर देते हैं, या जिनकल्प धारण कर लेते हैं, या फिर पुन गच्छ मे आ जाते हैं।

यह परिहार विशुद्ध कल्प, केवल छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले मुनिवरो को ही होता है—सामायिक चारित्र वालो को

नही होता, अर्थात मध्य के २२ तथा महाविदेह के तीर्थंकरो के साधुओ मे नही होता ।

इसके दो भेद हैं—१ निर्विश्यमानक—तप करने वाले पारिहारिक साधु और २ निर्विष्ट कायिक—वैयावृत्य करने वाले तथा तप करने के बाद गुरु पद पर हुआ अनुपारिहारिक साधु, निर्विष्टकायिक परिहार-विशुद्ध चारित्री कहलाता है । कम से कम जिनकी आयु उनतीस वर्ष की हो, बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय हो और जघन्य नोवे पूर्व की तीसरी आचार वस्तु और उत्कृष्ट असम्पूर्ण दस पूर्व का ज्ञान हो, वे ही परिहार-विशुद्ध चारित्र को अगीकार कर सकते हैं। यह चारित्र तीर्थंकर भगवान् के पास अथवा जिन्होने तीर्थंकर भगवान् के पास यह चारित्र अगीकार किया हो, उसके पास ही अगीकार किया जा सकता है अन्य के पास नही ।

४ सूक्ष्मसम्पराय चारित्र—जिसमे किञ्चित् मात्र सम्पराय (कषाय–लोभ) हो, वह सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहलाता है । यह भी दो प्रकार का होता है, जैसे—

संक्लिश्यमान सूक्ष्म-सम्पराय—उपशम-श्रेणी पर चढ़ कर वापिस गिरते समय परिणाम उत्तरोत्तर संक्लेशयुक्त होने के कारण, इस अधोमुखी परिणति को 'संक्लिश्यमान' कहते हैं ।

विशुद्धयमान-सूक्ष्म सम्पराय—उपशम अथवा क्षपक-श्रेणी पर चढते समय, परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्ध रहते हैं । इसलिए उत्थानोन्मुखी—वर्द्धमान परिणाम के कारण विशुद्धयमान सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहलाता है ।

यह चारित्र केवल दसवे गुणस्थान मे होता है ।

५ यथाख्यात चारित्र–कषाय रहित साधु का चारित्र, किसी भी प्रकार के किञ्चित् भी दोष से रहित, निर्मल और पूर्ण विशुद्ध होता है । जिस चारित्र की जिनेश्वरो ने प्रशसा की है, उस सर्वोच्च चारित्र को 'यथाख्यात चारित्र' कहते है । यह ग्यारहवे और उसके आगे के गुणस्थानो मे होता है । इसके निम्न भेद हैं:–

छद्मस्थ यथाख्यात चारित्र–यह ग्यारहवे और बारहवे गुणस्थान मे होता है ।

केवली यथाख्यात चारित्र–यह तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान मे होता है ।

उपशांत-मोह वीतराग यथाख्यात चारित्र–ग्यारहवे गुणस्थान मे ।

क्षीण-मोह वीतराग यथाख्यात चारित्र–बारहवे गुणस्थान मे ।

प्रतिपाति यथाख्यात चारित्र–ग्यारहवे गुणस्थान मे । क्योकि इसमे मोह उपशात ही होता है, इसलिए उपशात हुए मोह की स्थिति समाप्त होने पर वह चारित्र समाप्त हो जाता है और नीचे के गुणस्थान को प्राप्त करता है तथा अन्य गुणस्थान प्राप्त होने पर उसके मोह का उदय हो जाता है । इसलिए यह प्रतिपाति चारित्र है ।

अप्रतिपाति यथाख्यात चारित्र–बारहवे और उसके

आगे के गुणस्थान मे।

सयोग केवली यथाख्यात चारित्र—तेरहवे गुणस्थान मे।

अयोग केवली यथाख्यात चारित्र—चौदहवे गुणस्थान मे।

वर्त्तमान काल मे हमारे इस क्षेत्र मे 'इत्वरकालिक सामायिक चारित्र' तथा 'छेदोपस्थापनीय चारित्र' ही है और ये सारे विधि-विधान उन्ही के लिए हैं। इन दो चारित्रो का भी जो कल्पानुसार भावपूर्वक पालन करते हैं, वे मुनिवर इस ससार-समुद्र मे जहाज के समान—तिरन-तारन हैं।

संयमी आत्मा मे चारित्र की आराधना ही देखनी चाहिये। वे दरिद्र कुल से निकले हो, या राज्याधिकार एवं विपुल लक्ष्मी छोड कर। जिस आत्मा मे चारित्र की परिणति है, वह सभी के लिए वन्दनीय है। मुनिराज श्री ने यहा अभयकुमार और कठियारे का दृष्टात भी दिया था।



पूज्य बहुश्रुत श्रमण-श्रेष्ठ का प्रवचन

कल सम्यग्दर्शन का विषय था, आज विरति का विषय है। सम्यग्दर्शन और विरति, मोहनीय-कर्म को नष्ट करने वाले

नोट—दोनो सतो के वक्तव्य प्रथक्-प्रथक् हुए थे, किन्तु मैंने एक कर दिया—अपनी सुविधा के लिए। कई अशो मे साम्यता भी थी। विशेषता का समावेश तो किया ही है—स

हैं। मोहनीय कर्म के दो भेद है–१ दर्शनमोहनीय और २ चारित्र-मोहनीय। दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ है और चारित्र-मोहनीय की पच्चीस। चारित्रमोहनीय की २५ प्रकृतियो मे से आदि की चार–अनन्तानुबन्धी चतुष्क का दर्शन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। इनका उपशम, क्षयोपशम या क्षय हुए विना सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हो सकता। ऐसा नही हो सकता कि चारित्रमोहनीय के अनन्तानुवन्धी चोक का रसोदय रहते सम्यग्-दर्शन प्राप्त हो जाय। सम्यग्दर्शन भी तभी प्राप्त होता है, जब कि चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षयोपशमादि हो। इस प्रकार दर्शनमोहनीय की सहचारी अनन्तानुवन्धी कषाय से विरत होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। सम्यग्दर्शन की उपस्थिति मे अनन्तानुबन्धी कषाय की अविरति नही रह सकती। कहने का तात्पर्य यह कि सम्यक्त्व की प्राप्ति मे भी अनन्तानुवन्धी कपाय चतुष्क की विरति अनिवार्य होती है। चारित्र से सर्वथा निरपेक्ष सम्यग्दर्शन नही हो सकता, तब आगे के गुणस्थान मे विरति की कितनी आवश्यकता होती है–यह समझना सरल हो जाता है।

विरति मुख्यत. दो प्रकार की है–१ देश विरति और २ सर्व विरति।

सर्व प्रथम विरति मे श्रद्धा होना आवश्यक है। व्यक्ति के दोषो को जान देख कर, उस पर अविश्वास होना एक वात है, किन्तु श्रावको के व्रत तथा साधुता मे ही अविश्वास होना और कहना कि–"क्या धरा है साधुता मे, क्या लाभ है साधु बनने